4

ओ३म्

ऋषि दयानन्द के अज्ञात जीवन की समस्या और उसका समाधान

इं. आदित्यमुनि वानप्रस्थ

'अपना जन्म चरित्र' के विमोचनावसर पर लेखक (बाएँ से पहले) भाषण करता हुआ। मंच पर आगे स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती 'योगी', डॉ. सत्यकेतु विद्यालङ्कार एवं पं. क्षितीश वेदालङ्कारादि जन बैठे दिखाई पड़ रहे हैं।

।।ओ३म्।।

ऋषि दयानन्द के अज्ञात जीवन की समस्या और उसका समाधान

'आर्यसेवक' (मासिक, नागपुर) के शताब्दी-समारोह
(२७-२८ दिसम्बर २००३) के अवसर पर अपने पाठकों को एक
प्रेमोपहार

लेखक
इं० आदित्यमुनि वानप्रस्थ
(पूर्वनाम- इं० आदित्यपाल सिंह आर्य)

प्रकाशक
गङ्गा प्रकाशन मन्दिर
एच-१२८, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर
कोलार रोड, भोपाल-४६२०४२ (म०प्र०)

प्रकाशक :
गङ्गा प्रकाशन मन्दिर
एच-१२८, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर
कोलार रोड, भोपाल-४६२०४२ (म०प्र०)
दूरभाष : (०७५५) २४१६००८, ५२४९७००

संस्करण : तृतीय (नवम्बर, २००३ ई०)
मूल्य : २५/- (पच्चीस रुपये)
प्रतियाँ : १,१००

वितरक :

१- **गङ्गा प्रकाशन मन्दिर**
एच-१२८, राजहर्ष कालोनी, अकबरपुर
कोलार रोड, भोपाल-४६२०४२ (म०प्र०)

२- **आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्यप्रदेश व विदर्भ**
दयानन्द भवन, महर्षि दयानन्द मार्ग,
मङ्गलवारी बाजार, सदर
नागपुर-४४०००१ (महाराष्ट्र)
दूरभाष : (०७१२) २५९५५५६

मुद्रक :
दृष्टि आफसेट
३७, इन्दिरा मुद्रण परिसर,
महाराणा प्रताप नगर, भोपाल-४६२०११ (म०प्र०)
दूरभाष : (०७५५) २५७६७३३

अक्षर संयोजन :
ओम कम्प्यूटर ग्राफिक्स
भोपाल-४६२०११ (म०प्र०)
दूरभाष : (०७५५) २५७११२८

प्राक्कथन

१९८७ ई० में हमने स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती 'योगी' के सुपुत्र डॉ० वेदव्रत 'आलोक' के साथ मिलकर **"महर्षि दयानन्द सरस्वती** (द्वारा तीन बार में कहा और लिखाया गया) **अपना जन्मचरित्र"** नामक पुस्तक का सम्पादन एवं प्रकाशन किया था जिसका विमोचन 'वेद संस्थान नई दिल्ली' में ऋषि दयानन्द के १६४ वें जन्मदिवस (भाद्रपद शुक्ल ९, सं० २०४४ वि०, तदनुसार २ सितम्बर, १९८७) पर स्व० डॉ० सत्यकेतु विद्यालङ्कार द्वारा किया गया था। इस अवसर पर उनके अतिरिक्त पं० क्षितीश वेदालङ्कार, संस्थानाध्यक्ष पं० अभयदेव शर्मा, डॉ० फतेह सिंह, महात्मा चैतन्यमुनि, स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती और स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी और उनके योग शिष्य स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती आदि अनेक महानुभाव उपस्थित थे।

इस अवसर पर वेद संस्थान ने मुझे **'दयानन्द : जैसा मैंने समझा'** विषय पर भाषण देने के लिये आमन्त्रित किया था। पर चूँकि मैं मौखिक रूप से बोलने का अभ्यस्त नहीं हूँ, अत: जो भाषण मैं तब लिखकर और संस्थान के अनुरोध पर प्रकाशित करके वहाँ ले गया था, वही भाषण दो वर्ष बाद कतिपय संशोधनों और परिवर्द्धनों के साथ ऋषि दयानन्द के जन्मदिवस पर ९ सितम्बर, १९८९ को पुन: १,१०० की संख्या में मुद्रित होकर अब तक वितरित होता रहा है।

अब वही (दो अवसरों पर) पूर्व प्रकाशित आलेख पुन: कुछ और परिवर्द्धित कर इस संस्करण के उत्तरार्द्ध के रूप में प्रकाशित हो रहा है। इसके पूर्वार्द्ध में हमने डॉ० भवानीलाल भारतीय से दो वर्ष पूर्व जो ९ प्रश्न पूछे थे और उनके उन्होंने तब जो उत्तर दिये थे, उन्हें हमने अपनी समीक्षा के साथ पुस्तक के इस तृतीय संस्करण में अब और दे दिया है ताकि यह

विवादास्पद विषय पाठकों को और अधिक सुस्पष्ट हो सके।

इस प्रकार इस पुस्तक का यह संस्करण मेरे उस दृष्टिकोण का अधिकृत दस्तावेज है, जिस रूप में मैं दयानन्द के सम्पूर्ण जीवन को देखता हूँ। मैं अपने इसी दृष्टिकोण के साथ महर्षि का एक सम्पूर्ण एवं विस्तृत जीवन चरित्र **'दयानन्द दिवाकर'** नाम से लिखने का अपने शेष जीवन में निश्चय रखता हूँ, परन्तु हमारी व्यस्तताओं ने इसके लिखने के लिये अभी तक अनुकूल अवसर उत्पन्न नहीं होने दिया है, जिसका प्रमुख कारण आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्यप्रदेश व विदर्भ, नागपुर के मासिक मुखपत्र **'आर्यसेवक'** के सम्पादन, प्रकाशन एवं वितरण का दायित्व का निर्वहन करना है। आशा है इसके २७-२८ दिसम्बर, २००३ ई० को सम्पन्न हो रहे शताब्दी समारोह के बाद मुझे नागपुर अथवा भोपाल में बैठकर इस कार्य को करने का अवसर मिल सकेगा और कोई प्रकाशक इसके प्रकाशन के लिए स्वेच्छा से आगे आएगा। परमेश्वर मेरी इस इच्छा को मेरे इसी जीवन में मूर्त्तरूप प्रदान करे।

पुरुषार्थसदनम्, भोपाल-४२
१६ नवम्बर, २००३ ई० (आदित्यवार)

– आदित्यमुनि वानप्रस्थ

कहाँ, क्या?

पूर्वार्द्ध (कुछ अनुत्तरित प्रश्न)	५-३४
उत्तरार्द्ध (समस्या और उसका समाधान)	३५-६७
परिशिष्ट (ऋ०द० के प्रारम्भिक ४० वर्षों का घटना और यात्रा क्रम)	६८-७२

पूर्वार्द्ध

कुछ अनुत्तरित प्रश्न

महर्षि *'दयानन्द सरस्वती की सिपाही-विद्रोह में कथित भूमिका'* विषय पर डॉ० भवानीलाल भारतीय का एक लेख **'दयानन्द सन्देश'** के नवम्बर, २००१ के अङ्क में प्रकाशित हुआ था। तब बिना किसी प्रसङ्ग के इस लेख के लिखने का औचित्य मेरी समझ में नहीं आ सका था, क्योंकि उन्होंने अपने इस लेख में जिन बातों का प्रतिपादन किया था, उनका वे अतीत में पचासों वार प्रतिपादन कर चुके थे और आर्यजगत् में कदाचित् ही कोई व्यक्ति ऐसा रहा होगा जो उनके इन विचारों से परिचित न हो चुका हो। फिर अकारण ही यह पिष्ट-पोषण क्यों किया गया था ?

अपने लेख के आरम्भ में ही उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि ऋषि दयानन्द के जीवन चरित को जानने के प्रमुख स्रोत निम्न ही हैं :-

१- पूना में दिए गए ४ अगस्त, १८७५ के आत्मवृत्तान्त विषयक प्रवचन में कथित वृत्तान्त।

२- **'थियोसोफिस्ट'** पत्र की तीन किस्तों (१८७९-८०) में प्रकाशित आत्मकथन। *(जिसमें सम्भवत: ऋषि दयानन्द का देवनागरी का मूल हस्तलेख और उसका अँग्रेजी में प्रकाशित यह अनुवाद दोनों ही सम्मिलित माने गए थे। - लेखक)*

३- पं० लेखराम द्वारा सङ्कलित और डॉ० भवानीलाल भारतीय द्वारा सम्पादित तथा श्री रघुनन्दनसिंह निर्मल द्वारा उर्दू से अनूदित जीवनचरित।

४- पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा रचित दो जीवनचरित (क) १८९७ ई० में प्रकाशित और (ख) १९३३ ई० में प्रकाशित।

डॉ० भारतीय के अनुसार इन चार स्रोतों के आधार पर ही अभी तक अनेक जीवन चरित लिखे गए हैं जिससे उत्तरवर्ती इन समस्त जीवन चरितों की प्रमाणिकता अथवा अप्रमाणिकता उतनी ही है जितने कि वे इन मूल-स्रोतों के अनुकूल अथवा प्रतिकूल हैं ।

अत: हमने अपने लेख में डॉ० भारतीय के सम्मुख उक्त चार मूल स्रोतों के आधार पर ही कुछ प्रश्न उपस्थित किये थे जिनका उत्तर हमने उनसे to the point चाहा था। ये प्रश्न और उनके उत्तर **'वेदवाणी'** मासिक पत्रिका के फरवरी, २००२ के अंक में प्रकाशित हो चुके हैं । इन प्रश्नोत्तरों की समीक्षा करके निष्कर्ष निकालने का दायित्व हमने ऋषि जीवनी के मर्मज्ञ प्रा० राजेन्द्र जिज्ञासु (अबोहर) को पत्र लिखकर सौंपा था, परन्तु वे इतनी दीर्घावधि में भी कई बार स्मरण दिलाने के बाद भी जब यह कार्य नहीं कर सके, तब अब मुझे ही विवश होकर यह कार्य करना पड़ रहा है ।

डा० भारतीय ने मुझे मेरे प्रश्नों का उत्तर देते हुए अपने २४ नवम्बर २००१ के पत्र में लिखा था कि "प्रथम तो मैं यह निवेदन करूँ कि मेरा **'दयानन्द सन्देश'** के नवम्बर, २००१ के अङ्क में प्रकाशित लेख प्रसङ्ग विरहित नहीं था । पर्याप्त समय पूर्व **'सर्वहितकारी'** (रोहतक) में छपे एक लेख का प्रत्युत्तर था जिसे **'सर्वहितकारी'** ने नहीं छापा । अन्यथा मैंने सम्बन्धित विषय पर लिखना बन्द कर दिया है, कारण कि आर्यसमाज में दयानन्द विषयक शोध और अध्ययन शून्यवत् है । पत्रों में अनधिकृत व्यक्तियों द्वारा सर्वथा दायित्वहीन तथा प्रमाण रहित बातें लिखी जाती हैं । मेरी मान्यता है कि दयानन्द के जीवन विषयक अध्ययन को विकसित करने में सर्वश्री पं० लेखराम, पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, पं० भगवद्दत्त तथा पत्र-संग्रह में उनके सहयोगी स्व० मामराज सिंह (खतौली), प्रो० महेशप्रसाद मौलवी तथा पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने ही अपना योगदान दिया है । अब यह परम्परा समाप्त हो चुकी है । केवल कल्पना जाल, भावुकतापूर्ण वाक्विलास तथा अतिशयोक्तिपूर्ण कथन दयानन्द के नाम पर परोसे जा रहे हैं । इन पर माथापच्ची करना स्वयं को सजा देना है।"

आगे मेरे प्रश्न और उनके डॉ० भारतीय जी द्वारा दिए गए उत्तर तथा बाद में मेरे द्वारा की गई उनकी समीक्षा अङ्कित की जा रही है-

१- पूना में ४ अगस्त, १८७५ को दिए गए व्याख्यान में ऋषि दयानन्द द्वारा कहा गया है कि " *वहाँ से (अर्थात् अहमदाबाद से) मैं जाते-जाते हरिद्वार गया । वहाँ उस समय कुम्भ का मेला भरा हुआ था । वहाँ से हिमालय में अलखनन्दा जहाँ से निकली है, वहाँ गया । वहाँ केवल बर्फ थी, पानी अत्यन्त ठण्डा था । वहाँ पानी में मेरे पैर में कुछ लग जाने से घाव हो गया और रक्त बहने लगा । हिमालय पर्वत पर जाकर यहाँ देह छोड़ दूँ, ऐसी मेरी इच्छा हुई । परन्तु पुन: विचार मन में आया कि ज्ञान-प्राप्ति करने के पश्चात् देह छोड़ना चाहिए, ऐसा निश्चय करके मैं मथुरा आया । वहाँ मुझे एक संन्यासी सत्पुरुष गुरु मिले । उनका नाम विरजानन्द स्वामी था । वे पहले अलवर में रहते थे । उनका वय उस समय ८१ वर्ष का था ।*"

प्रश्न-१ : क्या ऋषि दयानन्द ने पूना में अहमदाबाद से मथुरा तक की अपनी यात्राओं का इतना ही विवरण दिया था ? यदि हाँ, तो क्या यह विवरण पूर्ण सत्य था ? यदि नहीं, तो उन्होंने अपूर्ण विवरण देकर कुछ यात्राओं को क्यों छिपाया ? क्या ऐसा करके उन्होंने मिथ्याभाषण नहीं किया था ? कृपया यह भी बताएँ कि इन यात्राओं की कुल समयावधि क्या है ?

उत्तर-१ : ४ अगस्त, १८७५ को पुणे में जो आत्मवृत्तान्त कहा गया, वह भाषण रूप में था । उस समय न तो टेप रिकार्डर थे और न शार्ट हैण्ड । मराठी पत्रकार ने उक्त व्याख्यान को जिस रूप में लिपिबद्ध किया, वही हमें उपलब्ध है । किन्तु ध्यान देने की बात है कि व्याख्यान में कोई बात विस्तारपूर्वक तथा सम्पूर्ण विवरण देते हुए कहना आवश्यक नहीं है । व्याख्यान में जितना विवरण देना स्वामी जी ने अभीष्ट समझा, उतना दिया । इसमें न तो कुछ छिपाना है और न मिथ्याभाषण । अहमदाबाद से मथुरा तक की समयावधि (१८५०-१८६०) दस वर्ष की है। मैं दयानन्द सरस्वती

के स्थान विशेष पर आगमन-प्रत्यागमन की तालिका जो महेशप्रसाद जी द्वारा बनाई गई है (पं० युधिष्ठिर जी द्वारा संशोधित) को ही प्रमाण मानता हूँ , इससे भिन्न नहीं ।

समीक्षा-१ : हमारे द्वारा स्वामी दयानन्द के उद्धृत कथन में उनके द्वारा डॉ० भारतीय द्वारा निर्धारित १० वर्ष की कालावधि (१८५०-६० ई०) में अहमदाबाद से हरिद्वार, पुनः वहाँ से अलखनन्दा नदी के उद्गम स्थान, तत्पश्चात् मथुरा पहुँचने मात्र के तीन स्थानों का ही उल्लेख किया गया है । यह विवरण स्वामी दयानन्द द्वारा पूना में अपने पूर्व चरित्र पर ४ अगस्त, १८७५ को दिए गए सार्वजनिक व्याख्यान के अनुसार है । इस व्याख्यान के चार वर्ष बाद जब उन्होंने **'थियोसोफिस्ट'** पत्रिका में प्रकाशनार्थ अपना जन्मचरित्र लिखकर भेजा तो उन्होंने इसी कालावधि में निम्न स्थानों पर जाना स्वीकार किया-

अहमदाबाद से आबूराज पर्वत, हरिद्वार, हृषीकेश, टिहरी, श्रीनगर, रुद्रप्रयागादि, अगस्त मुनि के स्थान, शिवपुरी, गुप्तकाशी, त्रियुगीनारायण का स्थान, गौरीकुण्ड, भीमगुफा, केदारनाथ, तुङ्गनाथ के पहाड़ पर, गुप्तकाशी, ओखीमठ, जोशीमठ, बदरीनारायण, अलखनन्दा के तट पर, पुनः अलखनन्दा के स्रोत पर, वसुधारा, माना ग्राम के निकट, बद्रीनारायण, चिल्किया घाटी उतरकर रामपुर, काशीपुर, द्रोणसागर, मुरादाबाद, सम्भल, गढ़मुक्तेश्वर, फर्रुखाबाद, श्रङ्गीरामपुर, कानपुर, पुनः इलाहाबाद-कानपुर के मध्यवर्ती स्थानों पर पाँच माह तक भ्रमण, तत्पश्चात् मिरजापुर, बनारस, चण्डालगढ़, दुर्गाखोह, नर्मदा स्रोत की ओर *(आगे की आत्मकथा स्वामी जी द्वारा नहीं लिखी गई ।)* बाद में वे तीन वर्ष के अन्तराल के बाद १४ नवम्बर, १८६० ई० को मथुरा पहुँच पाते हैं ।

स्पष्ट है कि स्वामी जी ने सार्वजनिक रूप से कहे हुए अपने पूना के इस व्याख्यान में अधिकांश स्थानों का उल्लेख नहीं किया है । यदि स्वामी जी थियोसोफिस्ट पत्रिका में प्रकाशित की गई अपनी इस आत्मकथा को पूरा कर लेते तो वे नर्मदा स्रोत से लेकर मथुरा पहुँचने तक की अपनी शेष तीन वर्षीय यात्रा में अन्य भी अनेक स्थानों पर जाने का उल्लेख करते ।

अपने इस पूना प्रवचन में ही उन्होंने अहमदाबाद से पहले और मथुरा पहुँचने के बाद विस्तार से अन्य स्थानों पर जाना निम्न प्रकार स्वीकार किया है-

(क) **अहमदाबाद से पहले**- मोरवी राज्य के एक गाँव में जन्म, जमींदारी के एक गाँव में अध्ययन, घर से भागकर समीप के एक गाँव में, दूसरे दिन अपने गाँव से २० कोश की दूरी पर के एक गाँव में, सायला, कोठकाँगड़, सिद्धपुर, बड़ौदा, ---नर्मदा तट भ्रमण, चाणोद, अहमदाबाद ।

(ख) **मथुरा से आगे**- आगरा में दो वर्ष निवास, ग्वालियर, करौली, जयपुर, पुष्कर, अजमेर, जयपुर, मथुरा, हरिद्वार, फर्रुखाबाद, रामगढ़, फर्रुखाबाद, कानपुर, प्रयाग, रामनगर, काशी में चार बार, हिन्दुस्तान के सब भागों में, दो वर्ष से कलकत्ता, लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, जबलपुर आदि स्थानों पर, मुम्बई, अहमदाबाद, राजकोट, पूना में ।

परन्तु क्या कारण है कि उक्त १० वर्षीय कालखण्ड (१८५०-६०) में केवल तीन स्थानों पर ही जाने का उल्लेख किया है ?

हमने अपने द्वारा सम्पादित ग्रन्थ **'महर्षि दयानन्द सरस्वती का अपना जन्म चरित्र'** में इसका स्पष्टीकरण निम्न शब्दों में दिया है-

"ऋषि दयानन्द के जीवन-चरित्रों के पाठक जानते हैं कि वे १८५१ ई० के अन्त तक (हमारे अनुसार फरवरी १८५२ तक) अहमदाबाद में रहे थे और १४ नवम्बर, १८६० को स्वामी विरजानन्द जी के पास मथुरा में पहुँचे थे । इस प्रकार उपर्युक्त घटनाक्रम लगभग ९ वर्ष का बैठता है । इस बीच कुम्भ का मेला हरिद्वार में फरवरी-अप्रैल, १८५५ में हुआ था । इस अवस्था में आगे जाकर **'थियोसोफिस्ट'** पत्रिका में यदि ऋषि दयानन्द ने अपना जन्म-चरित्र न छपवाया होता तो उनके जीवन चरित्रों का जो स्वरूप आज होता, उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है । पूना-प्रवचन के इस पूर्व-चरित्र के आधार पर जो जीवन-चरित्र तब लिखे जाते, उनमें निश्चय ही आबू पर्वत पर योगाभ्यास के लिए बिताए गए तीन वर्षों का उल्लेख न होता तथा

अलखनन्दा स्रोत से लेकर मथुरा पहुँच तक के विवरण के मध्य काशीपुर, द्रोणसागर, मुरादाबाद, सम्भल, गढ़मुक्तेश्वर, फर्रुखाबाद, श्रङ्गीरामपुर, कानपुर-प्रयाग (के मध्यवर्ती स्थानों), मिरजापुर, काशी, चण्डालगढ़ और आगे नर्मदास्रोत की ओर की यात्रा का उल्लेख न होता ।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या ऋषि दयानन्द ने इस अवधि का मात्र इतना ही विवरण दिया था अथवा वह रानडे महोदय द्वारा मात्र इतना ही लिखा जा सका । किञ्चित विचार करने पर यह तो माना जा सकता है कि ऋषि दयानन्द ने आबू जाने का उल्लेख एक वाक्य में कर दिया हो और उत्तराखण्ड के कुछ स्थानों पर जाने का भी उल्लेख किया हो परन्तु कथ्य की शीघ्रता और लेखन शैथिल्य के कारण रानडे महोदय उनमें से किसी भी स्थान को नोट न कर पाए हों, परन्तु यह नहीं माना जा सकता कि अलखनन्दा स्रोत से मथुरा पहुँच तक के ४ वर्षों में ऋषि दयानन्द जिन-जिन स्थानों पर गए, उनका उल्लेख तो उन्होंने अपने व्याख्यान में किया हो, किन्तु रानडे महोदय उनमें से किसी भी स्थान को नोट न कर पाए हों । तब स्वभावत: ही यह प्रश्न उठता है कि सार्वजनिक रूप से कहे गए इस पूर्व-चरित्र में ऐसा कौन सा कथ्य था, जो ऋषि दयानन्द छिपाना चाहते थे ?

इतिहासविज्ञ जानते हैं कि १८५६-६० तक के ४ वर्ष भारत में काफी उथल-पुथल के वर्ष रहे हैं क्योंकि इन वर्षों में भारत का प्रथम स्वातन्त्र्य समर लड़ने की तैयारी की जाकर वह अँग्रेजों के विरुद्ध लड़ा गया था । अत: जब तक ऋषि दयानन्द की इस युद्ध में कोई सक्रिय भूमिका न रही हो, तब तक अन्य कोई ऐसा कारण नहीं था कि वे इस काल की अपनी यात्राओं एवं गतिविधियों पर किञ्चित भी प्रकाश न डालते, जबकि इस पूर्व-चरित्र में ऐसा अन्यत्र नहीं किया गया है । *(अन्यत्र इसमें केवल सिद्धपुर से बड़ौदा आने के मध्य अहमदाबाद का और बड़ौदा से नर्मदा-तट घूमने के मध्य काशी जाने का ही स्पष्ट उल्लेख नहीं हो पाया है जो हमारी दृष्टि में लेखक प्रमाद के फलस्वरूप ही है ।)*

इस प्रकार अपना पूर्व-चरित्र अथवा पूना-प्रवचन अपने में पूर्ण नहीं है और अन्य व्यक्ति द्वारा प्रवचनकर्त्ता से सुन-सुनकर शीघ्रता में लिखा हुआ

होने से *'इदमित्थम'* भी नहीं माना जा सकता है । उससे ऋषि दयानन्द के जीवन की एक झलकमात्र मिलती है जो किसी प्रामाणिक-कथ्य की पूरक जानकारी के रूप में प्रयुक्त की जा सकती है ।"

२- डॉ० भारतीय द्वारा सम्पादित देवनागरी मूल वाली ऋषि दयानन्द की आत्मकथा में लिखा है कि :-

''फिर आबूराज पर्वत के योगियों को सुनके, वहाँ जाके, अर्वदाभवानी आदि स्थानों पर भवानीगिरि आदि योगियों से मिलके कुछ और योगाभ्यास की विधि सीख के----''

जबकि **'थियोसोफिस्ट'** पत्रिका के अक्टूबर, १८७९ के अंक में प्रकाशित इसी के अंग्रेजी अनुवाद में लिखा है कि-

"Still later, it was divulged to me that there were many far higher and more learned Yogis than those I had hitherto met - yet still not the highest - who resided on the peaks of the mountain of Aboo, in Rajputana. Thither then, I travelled again to visit such noted places of sancity as the Arvada Bhawanee and others; encountering at last, those whom I so eagerly sought for, on the *peak of Bhawanee Giree*, and learning from them various other systems and modes of Yoga."

प्रश्न-२ : क्या ऋषि दयानन्द द्वारा आर्यभाषा में लिखी गई आत्मकथा का अँग्रेजी में ठीक-ठीक अनुवाद करके प्रकाशित किया गया है ? यदि हाँ, तो भवानीगिरि नामक योगी को भवानीगिरि नामक पहाड़ की चोटी कैसे बना दिया गया है और आर्यभाषा की उक्त पंक्ति का चार गुना अँग्रेजी का अनुवाद कैसे बन गया है ? यदि नहीं, तो तीसरी किश्त का अनुवाद कैसे विश्वसनीय ठहराया जा सकता है जिसका मूल आर्यभाषा का हस्तलेख अद्यावधि अप्राप्त है ?

उत्तर-२ : आत्मकथा के मूल हिन्दी पाठ के अँग्रेजी अनुवाद का दायित्व अनुवादकर्त्ता पर है न कि मुझ पर । उसने यदि मूल का विस्तार

भी किया तो देखना होगा कि उसमें कहीं अन्तर्विरोध तो नहीं है । अँग्रेजी अनुवाद की कुछ त्रुटियों को आपने अपने एक लेख में उठाया है, उनसे मैं सहमत हूँ । तथापि मूल हिन्दी तथा विस्तारित अँग्रेजी अनुवाद में कोई आत्म-विरोध नहीं है।

समीक्षा-२ : ऋषि दयानन्द की आत्मकथा की तीन किश्तों में से प्रथम दो किश्तों का हस्तलेख उनके लेखन के ९६ वर्षों के बाद डॉ० भवानीलाल भारतीय को परोपकारिणी सभा के पुराने बस्तों से १९७५ ई० में ही उपलब्ध हो सका जिसे उन्होंने **'परोपकारी'** मासिक पत्र के मार्च, १९७५ के अंक में मूलरूप में (छायाप्रति सहित) छपवा दिया । इससे पूर्व के सभी लेखक थियोसोफिस्ट में छपे त्रुटिपूर्ण और विस्तारित अनुवाद पर ही आश्रित रहे जिसकी वजह से विभिन्न लेखकों द्वारा लिखे गए जीवनचरित्रों में वे सभी दोष आ गए और अब तक विद्यमान हैं जो थियोसोफिस्ट पत्रिका में छपे अँग्रेजी अनुवाद में विद्यमान थे । इन दोषों को यहाँ लिपिबद्ध करने से इस लेख का पर्याप्त विस्तार हो जाएगा । वैसे हमारे द्वारा इङ्गित कुछ दोषों को डॉ० भवानीलाल भारतीय ने स्वीकार कर ही लिया है । तब केवल थियोसोफिस्ट पत्रिका में छपे अँग्रेजी अनुवाद के आधार पर लिखे गए ऋषि दयानन्द के जीवन-चरित्रों के आरम्भिक (१८२४-६० के) विवरणों को प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता । इसमें वे सभी जीवन-चरित्र आ जाते हैं जो १९७५ से पहले लिखे गए हैं । विशेषकर पं० लेखराम द्वारा संकलित जीवन चरित्र में तो ऐसी त्रुटियों की भरमार ही है जिसमें उनका कोई दोष नहीं है । दोष तो उन्हें उपलब्ध हुई त्रुटिपूर्ण आधारभूत सामग्री का है । इसी कारण थियोसोफिस्ट पत्रिका में अनुवादित होकर छपे आत्मकथा की तीसरी किश्त (जिसका मूल हस्तलेख अद्यावधि अप्राप्त है) के विवरण सर्वथा निरापद नहीं माने जा सकते ।

३- पं० लेखराम द्वारा सङ्कलित और श्री रघुनन्दनसिंह निर्मल द्वारा अनूदित तथा विक्रम संवत् २०३४ में प्रथमवार आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित जीवन चरित्र के द्वितीय भाग के आरम्भ में लेखक द्वारा शीर्षक दिया गया है - *' हमारे द्वारा अन्वेषित श्री स्वामी जी का जीवनवृत्त'।* इसका

आशय यह हुआ कि प्रथम भाग का जीवनवृत्त पं० लेखराम द्वारा अन्वेषित नहीं है । उन्होंने इस सम्बन्ध में लिखा भी है कि " चूँकि मूल प्रतियाँ केवल तीन हैं अर्थात् पूना का व्याख्यान और 'थियोसोफिस्ट' पत्रिका तथा हिन्दी कापी । हमने इन तीनों को बड़ी सावधानता के साथ नियमित रूप दिया । इसमें एक-एक शब्द स्वामी जी का है, परन्तु नियमित रूप हमारा दिया हुआ है । हमने नियमित रूप देने के अतिरिक्त और कोई अधिकता नहीं की ।"

इसी जीवनचरित्र के प्रथम भाग के अध्याय दो में लिखा है कि " *नर्मदा तट पर तीन वर्ष तक यात्रा की और भिन्न-भिन्न महात्माओं से सत्सङ्ग करता रहा ।*"

प्रश्न-३ : कृपया बताएँ कि स्वामी जी ने यह वाक्य उक्त तीनों प्रतियों में कहाँ कहा अथवा लिखा है ? यदि नहीं कहा अथवा लिखा है तो क्या पं० लेखराम जी ने अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग कर स्वयं ही यह वाक्य लिखकर स्वामी जी के मत्थे नहीं मढ़ दिया है ? (इसी प्रकार का उन्होंने बहुत सारा गड़बड़ घोटाला इसमें कर रक्खा है जिसे विस्तारभय से मैं यहाँ नहीं लिख रहा हूँ ।)

उत्तर-३ : पं० लेखराम रचित जीवनचरित का प्रथम भाग उनके द्वारा अन्वेषित इस अर्थ में नहीं है कि यह तो थियोसोफिस्ट तथा पुणे में दिए गए ४ अगस्त, १८७५ के व्याख्यान का ही समन्वित एवं सम्पादित रूप है । पूना-प्रवचन तथा थियोसोफिस्ट में प्रकाशित तीन किस्तों की आत्मकथा का ऐसा ही समन्वित सम्पादन पं० भगवद्दत्त ने भी किया है । आपका आक्षेप है कि अमुक पंक्ति को पं० लेखराम ने अपने मन से लिखकर स्वामी जी के मत्थे मढ़ दिया है । इसका उत्तर तो पं० लेखराम ही दे सकते थे । मेरा विचार है कि प्रासङ्गिक वाक्य घटनाक्रम को व्यवस्थित करने के लिए लिखा गया है । आप इसके कारण पं० लेखराम को प्रतिज्ञाभङ्ग का दोषी ठहराते हैं तथा उन पर 'बहुत सारा गड़बड़ घोटाला' करने का आरोप लगाते हैं, तो इस पर मैं कुछ कहने में असमर्थ हूँ । समन्वय

का यह वाक्य पं० भगवद्दत्त ने भी स्वसम्पादित **'ऋषि दयानन्द स्वरचित (लिखित वा कथित) आत्मवृत्तान्त'** में लिखा है (चतुर्थ संस्करण पृ० ४३)। पं० भगवद्दत्त ने तो पं० लेखराम द्वारा लिखित उक्त वाक्य की पुष्टि में यह पाद-टिप्पणी भी दी है :- (फिर नर्मदातट में दर्शनशास्त्रों को पढ़ा । पत्र-विज्ञापन पंक्ति ७, ८)। **'महात्माओं का सत्सङ्ग करने'** और **'दर्शनशास्त्र पढ़ने में'** मैं कोई अन्तर्विरोध नहीं मानता ।

समीक्षा-३ : डॉ० भवानीलाल भारतीय इस बात को नहीं बता सके हैं कि पं० लेखराम ने जो यह वाक्य लिखा है कि *"नर्मदा तट पर तीन वर्ष तक यात्रा की और भिन्न-भिन्न महात्माओं से सत्संग करता रहा ।"* वह महर्षि दयानन्द ने कहाँ कहा अथवा लिखा है । उन्होंने ऐसी स्थिति में यह स्वीकार किया है कि "मेरा विचार है कि प्रासङ्गिक वाक्य घटनाक्रम को व्यवस्थित करने के लिए (पं० लेखराम द्वारा) लिखा गया है ।" सो वे तो लिखकर शहीद हो गए, परन्तु उनके बाद हुए ऋषि दयानन्द के जीवनीकार बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को अपने ग्रन्थ के तीसरे अध्याय के अन्त में *(जो उन्होंने स्वयं ही लिखा था, पं० घासीराम ने तो उसका अनुवादमात्र किया था)* इसका खण्डन यह लिखकर करना पड़ा-

"नर्मदा के उत्पत्ति-स्थान के दर्शन के पश्चात् उन्होंने (अर्थात् ऋषि दयानन्द ने) क्या किया, कहाँ-कहाँ गए, किस-किस नए योगाभ्यास के उद्देश्य से किस-किस योगी के पास गए । वस्तुतः इस पहाड़ी ग्राम के वृक्ष के नीचे रात्रि भर विश्राम करके जब अगले दिन वह सन्ध्योपासना के पीछे आगे जाने के लिए उद्यत हुए, उसके पीछे का उनका जीवन न केवल हमारे लिए ही अन्धकार में छिपा हुआ है, बल्कि संसार भर के लिए ही अज्ञात है ।" इसके आगे बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने अपनी पाद-टिप्पणी में लिखा है कि "पण्डित लेखराम अपनी कल्पना के बल पर लिख गए हैं कि नर्मदा के उत्पत्ति स्थान के दर्शन करने के बाद दयानन्द तीन वर्ष तक नर्मदा के तट पर भ्रमण करते रहे थे और अनेक साधु-महात्माओं के साथ मिले थे । वह बुन्देलखण्ड से ही मथुरा आए थे । इस विषय को हम पण्डित जी के

स्वकपोलकल्पित होने के सिवाय और कुछ नहीं कह सकते । जो लोग किसी प्रमाण वा भित्ति का आश्रय न लेकर अपनी कल्पना के आवेग में चाहे जो प्रचारित कर देते हैं, उन्हें ऐतिहासिक न कहकर औपन्यासिक कहना ही क्या युक्तियुक्त नहीं है ?"

पं० लेखराम के इस एक वाक्य ने लोगों को इतना भ्रमित किया है कि स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती (बड़ौत) २२ वर्ष पूर्व १७६ पृष्ठों की अपनी एक पुस्तक *"योगी का आत्मचरित्र, एक षड़यन्त्र है !"* इसी वाक्य को आधार बनाकर लिख गए हैं । यदि पं० लेखराम ने यह वाक्य न लिखा होता तो वे अपनी इस पुस्तक को लिखने का दुस्साहस न कर पाते । पं० लेखराम के लिखे को ही आधार बनाकर जब मैंने स्वामी दयानन्द के हस्तलेख (डॉ० भवानीलाल भारतीय द्वारा १९७५ में प्रकाशित) की आत्मकथा से कुछ प्रसंग उद्धृत कर उन्हें भेजे तो उन्होंने उन तक को स्वीकार करने से मना कर दिया और मुझे लिखा कि पता नहीं यह किसने लिखे हैं । उनका यह पत्र हमारे पास सुरक्षित है । वस्तुत: जब तक पं० लेखराम का यह वाक्य विद्यमान है तब तक ऋषि दयानन्द के उस कथन का कोई मूल्य नहीं है जो मेरठ में उन्होंने अपने भक्तों से इस प्रकार कहा था कि- *"मैं एक बार गंगोत्री से चलकर गंगासागर तक और एक बार गंगोत्री से रामेश्वर तक गया था ।"* क्या ऋषि दयानन्द द्वारा कथित यह वाक्य उतना भी महत्व नहीं रखता जितना महत्व इस समय डॉ० भारतीय आदि पूना में कहे गए उनके आत्म वृत्तान्त को दे रहे हैं ।

मेरा यह लिखना कि पं० लेखराम ने *'बहुत सारा गड़बड़ घोटाला'* कर रक्खा है, डॉ० भारतीय अपने द्वितीय उत्तर में इस प्रकार स्वीकार कर ही चुके हैं कि "अँग्रेजी अनुवाद की कुछ त्रुटियों को आपने अपने एक लेख में उठाया है, उनसे मैं सहमत हूँ ।" इन त्रुटियों के अलावा पं० लेखराम ने जो ऋषि दयानन्द के नाम से उनकी आत्मकथा में यत्र-तत्र तिथियाँ आदि प्रविष्ट कर दी हैं, उनने उत्तरवर्ती जीवनी लेखकों के इस विषय में कुछ विचार करने और लिखने के सारे रास्ते ही बन्द कर दिए हैं ।

पं० भगवद्दत्त ने भी स्वामी दयानन्द की आत्मकथाओं का समन्वय करते हुए ऐसी ही कुछ भूलें की हैं जिनमें से एक इस प्रकार है कि उन्होंने अपने द्वारा सम्पादित *'ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वरचित (लिखित वा कथित) जन्म-चरित्र'* के पृष्ठ-२५ पर (रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण नवम, वि० संवत् २०३४, सन् १९७८ ई०) द्वितीय अनुच्छेद में लिखा है कि *"मैंने उनसे कह दिया कि यहाँ से हिलने का प्रयत्न करने की अपेक्षा मैं मर जाना उत्तम समझता हूँ। ऐसा कहकर मैंने उनकी बातों की ओर ध्यान करना भी बन्द कर दिया, अर्थात् पुनः उन्हें न सुना।"* आगे चलकर जब ऋषि दयानन्द द्रोणसागर पहुँच गए तो पं० भगवद्दत्त अपनी इसी पुस्तक के पृष्ठ-२७ के तीसरे अनुच्छेद में लिखते हैं कि *"उससे चलकर मैं काशीपुर गया। वहाँ से द्रोणसागर जा पहुँचा। यहीं मैंने सारा शरद् ऋतु काटा। हिमालय पर्वत पर पहुँचकर देह त्याग देना चाहिए, ऐसी इच्छा हुई। परन्तु मन में यह विचार आ गया कि ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् देह छोड़ना चाहिए। अतः वहाँ से मुरादाबाद होता हुआ सम्भल आ पहुँचा। वहाँ से गढमुक्तेश्वर होते हुए पुनः मैं गंगा-तट पर आ गया।"* इस समन्वय में पं० जी से यह त्रुटि हुई है कि ऋषि के मन में देह त्याग का जो विचार अलखनन्दा के स्रोत पर पहुँचकर एक बार ही आया था उसे उन्होंनें वहाँ के अलावा द्रोणसागर और मुरादाबाद के मध्य भी लाकर दुहरा दिया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जब तक मनुष्य की किसी भी कृति को दोषपूर्ण हो सकना स्वीकार नहीं किया जाएगा तब तक किसी भी समस्या का समाधान होकर सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता।

४- पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा रचित एवं १८९७ में प्रकाशित बँगला **'दयानन्द-चरित'** के भाषानुवाद के पृ० ११४ पर लिखा है कि *" इसके पश्चात् बड़ौदा से वाराणसी, चाणोद-कल्याणी और आबू पर्वत प्रभृति स्थानों में भ्रमण करते हुए सन् १८५५ ई० में हरिद्वार आए। हरिद्वार में उस समय कुम्भ का मेला था।"*

प्रश्न-४ : इसमें बड़ौदा से वाराणसी जाने पुनः वहाँ से ही चाणोद-कल्याणी आने का उल्लेख है। तो क्या पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा कृत उक्त उल्लेख गलत है ? यदि हाँ, तो यह पुस्तक कैसे प्रामाणिक

मानी जा सकती है ? डॉ० भारतीय ने मासिक 'परोपकारी (अजमेर)' के जून १९८६ के अङ्क में प्रकाशित अपने 'माँ जी हरिकुँवरी (बड़नगरी)' शीर्षक लेख में लिखा था कि "बाई के पिता रामेश्वर दवे के (संन्यास) गुरु श्री परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती अत्यन्त विद्वान् थे । ये काशी से पूर्व की ओर गङ्गा जी के किनारे एक गुफा में रहते थे।"

अत: स्वामी दयानन्द उनसे मिलने बड़ौदा से काशी ही गए थे जैसा कि पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने उक्त पुस्तक में लिखा है । तब उनका लेख मिथ्या कैसे हो सकता है ?

उत्तर-४ : देवेन्द्रनाथ लिखित १८९७ के जीवन चरित में (पृ० ७२, गोविन्दराम हासानन्द का मेरे द्वारा सम्पादित नया संस्करण) जिस काशी यात्रा का उल्लेख आया है, वह पाद-टिप्पणी में है जो यह दर्शाता है कि इसे लेकर खुद लेखक ही आश्वस्त नहीं थे । १८९७ में प्रकाशित जीवनचरित तो मुखोपाध्याय जी का प्रथम प्रयास था । इसे उन्होंने स्वयं 'प्रथम उद्यम' मात्र बताया है । आगे चलकर जब उन्होंने लगभग पन्द्रह वर्षों तक दयानन्द चरित की खोज की तो उन्होंने १८९७ की इस पाद टिप्पणी को सर्वथा हटा दिया । प्रो० महेशप्रसाद द्वारा प्रस्तुत स्थान-काल तालिका में इस कथित काशी यात्रा का उल्लेख न होना, इसके असत्य होने का सबसे बड़ा सबूत है । इसी पाद-टिप्पणी का सहारा लेकर पं० दीनबन्धु ने जो अकाण्ड ताण्डव किया और स्वामी जी को तांत्रिकों, जैनों, बौद्धों तथा लोकायतियों के चरणों में बिठाकर तन्त्र, जैन तथा बौद्ध शास्त्र आदि पढ़ने का मिथ्या आरोपण किया, उस पर कुछ न लिखना ही उचित है ।

ऋषि की आत्मकथा में बनारसीबाई वैरागी के स्थान पर जाकर चर्चा का उल्लेख हुआ है । इस पर आपकी और मेरी विशद बातचीत चण्डीगढ़ में हुई थी, उसका स्मरण आपको होगा । स्वामी सच्चिदानन्द परमहंस से स्वामी जी की भेंट गुजरात में ही

हुई थी न कि काशी में । कालान्तर में बनारसीबाई (माँ जी हरिकुँवरी) ने अपना आश्रम काशी में गङ्गा के किनारे बना लिया था । यह आश्रम बरना सङ्गम (असी और बरणा नदी का सङ्गम) पर आनन्द गुफा में था । यहीं पर स्वामी जी की माँ जी से भेंट पौष १९३६ वि० में हुई थी । उस समय स्वामी जी के साथ कर्नल अल्काट, मैडम ब्लैवैट्स्की तथा पायोनियर के सम्पादक मि० सीनेट थे । पं० लेखराम ने इन्हें मि० सेंट लिखा है। उस समय स्वामी जी की स्वामी सच्चिदानन्द से कोई भेंट नहीं हुई ।

समीक्षा-४ : जब १८९७ में बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने यह विचाराधीन वाक्य लिखा था तब ऋषि के साक्षात् दर्शन करने वाले और उनके मुख से उनके पूर्व जीवन की घटनाएँ सुन रखने वाले अनेक लोग विद्यमान थे जो यह जानते थे कि ऋषि दयानन्द पहले बड़ौदा से काशी ही गए थे और वहीं से लौटकर पुन: नर्मदा तट पर भ्रमण करते हुए चाणोद कर्णाली पहुँचे थे । ऐसे साक्षात् दर्शी लोग पिछली शताब्दी के आरम्भिक वर्षों तक जीवित थे, जब स्वामी जी के निधन को ५० वर्ष से अधिक नहीं हुए थे । अपने जीवनकाल में महर्षि दयानन्द ने गुजरात (अब पाकिस्तान में) पहुँचकर संवत् १९३४ वि० में एक व्याख्यान में अपना जीवन-वृत्तान्त सुनाया था । *(द्रष्टव्य बाबू देवेन्द्रनाथ मुखेपाध्याय द्वारा संकलित जीवन, चरित्र भाग-२)* । उसमें उन्होंने क्या-क्या बताया था और उसमें उन्होंने बड़ौदा से पहले काशी जाना अपने श्रोताओं को न बताया हो, आज कौन कह सकता है ? अत: ऐसा ही उल्लेख ऋषि दयानन्द की पूर्व प्रकाशित आत्म कथाओं में भी किया जाता रहा है । यथा- 'गोविन्दराम हासानन्द' द्वारा जनवरी, १९६० ई० में प्रकाशित महर्षि दयानन्द सरस्वती की आत्मकथा के पृष्ठ ४१-४२ पर लिखा है कि " इस संवाद के पाते ही मैंने काशी की ओर यात्रा आरम्भ कर दी और वहाँ पहुँचकर सच्चिदानन्द परमहंस से मनस्तत्व के विषय में बातचीत करने लगा । सच्चिदानन्द से मैंने सुना कि नर्मदा के तीर पर चाणोद-कल्याणी नाम के स्थान में बहुत से उन्नत चरित्र संन्यासी और ब्रह्मचारी रहते हैं । इसके अनुसार मैंने वहाँ जाकर--।" इतना ही नहीं स्वामी दयानन्द के समकालीन पं०

लेखराम जी ने भी अपने ग्रन्थ में लिखा है कि *"यह नर्मदा की दूसरी यात्रा थी।"*

मैं १९८५ में कलकत्ता गया था। वहाँ मैंने श्रीयुत देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा लिखित और बाबू घासीराम एम० ए० एल०एल० बी० द्वारा अनूदित तथा गोविन्दराम हासानन्द द्वारा वैदिक प्रेस २०, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता से द्वितीय बार १९८९ वि० (१९३२ ई०) में प्रकाशित **'दयानन्द चरित'** नामक पुस्तक देखी थी। उसके पृष्ठ-११४ पर यह वाक्य मूल में लिखा हुआ था कि *"इसके पश्चात् बड़ौदा से **वाराणसी**, चाणोद-कल्याणी, व्यासाश्रम और आबूपर्वत प्रभृति स्थानों में भ्रमण करते हुए सन् १८५४ ईस्वी में (वस्तुतः यहाँ १८५५ ई० होना चाहिए - आ०मु०) आए। हरिद्वार में उस समय कुम्भ का मेला था।"* इसी पुस्तक के पृष्ठ-११६ पर लिखा था कि *"उन्होंने कृष्णशास्त्री से तो कुछ दिन तक विद्यार्थी रूप में व्याकरण की शिक्षा भी पाई थी।"* इसी के नीचे पाद टिप्पणी में लिखा था कि *"पण्डितवर ज्वालादत्त शर्मा ने हमसे कहा था कि दयानन्द ने काशी के रामनिरञ्जन शास्त्री से कुछ काल तक कौमुदी और न्यायशास्त्र पढ़ा था। परन्तु किस समय पढ़ा था, यह निरूपण करना कठिन है। उपर्युक्त समय में अर्थात् जिस समय वह नाना स्थानों में भ्रमण करते थे उस समय वह काशी में बारह दिन से अधिक नहीं रहे थे। विशेषतः उस समय में काशी में अध्ययन करने का उल्लेख भी नहीं है। उससे पहिले अर्थात् जब वह बड़ौदा के चैतन्यमठ में रहते थे, उस समय वहाँ से एक बार काशी यात्रा का उल्लेख है। अस्तु, उस समय अथवा चण्डालगढ़ से नर्मदा प्रदेश को जाने के पीछे और मथुरा आने से पहिले किसी समय में काशी जाकर रामनिरञ्जन से अध्ययन करना सम्भव हो सकता है। रामनिरञ्जन गौड़ स्वामी की गद्दी पर अधिष्ठित थे। अब उस गद्दी पर विशुद्धानन्द हैं।"*

अब डॉ० भारतीय ने इसका जो नया संस्करण (२००० ई०) अपने सम्पादकत्व में विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली से प्रकाशित करवाया है, उसमें उन्होंने पृष्ठ-७० के अन्तिम अनुच्छेद में सम्पादक के धर्म का निर्वाह न कर (वस्तुतः बेईमानी कर) मूल में इसी वाक्य को इस प्रकार छपवाया है-

"इसके पश्चात् बड़ौदा से चानोद-कल्यानी, व्यासाश्रम और आबू पर्वत

प्रभृति स्थानों में भ्रमण करते हुए सन् १८५४ ईसवी में हरिद्वार आए। हरिद्वार में उस समय कुम्भ का मेला था।" पाठक देखें कि किस प्रकार भारतीय जी ने बड़ौदा और चाणोद कल्याणी के बीच से वाराणसी को निकाल दिया है। इसे ही कहते हैं- एक तो चोरी और ऊपर से सीना जोरी। दूसरा जो पूर्व प्रकाशित पुस्तक के ११६वें पृष्ठ का प्रसंग है, वह डॉ० भारतीय द्वारा सम्पादित पुस्तक के ७२वें पृष्ठ पर अब भी विद्यमान है।

प्रो० महेशप्रसाद जी स्वामी दयानन्द जी के साथ-साथ नहीं घूम रहे थे जो वे उनकी यात्राओं के स्थानों का उल्लेख अपनी पुस्तक **'महर्षि दयानन्द कब, कहाँ ?'** में ठीक-ठीक कर पाते। उन्होंने तो अपनी इस पुस्तक को उसके लेखन समय तक प्रकाशित ऋषि दयानन्द के विभिन्न जीवन चरित्रों के आधार पर ही तैयार किया था। इसलिए उसमें पहले बड़ौदा से काशी जाने का उल्लेख न हो पाना इस विवादास्पद यात्रा के निर्णय के लिए कोई आधार नहीं है।

डॉ० भारतीय **'परोपकारी'** मासिक पत्र (अजमेर) के मार्च, १९८५ और जून, १९८६ के अंकों में प्रकाशित अपने दो लेखों में यह स्वयं ही स्वीकार कर चुके हैं कि काशी के पं० रामनिरञ्जन शास्त्री से स्वामी दयानन्द ने अपने अध्ययनकाल के प्रारम्भिक दिनों में कुछ समय तक अध्ययन किया था और परमहंस स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती काशी के पूर्व की ओर गंगा के किनारे पर एक गुफा में रहते थे। अब अपने इन लिखे लेखों से ही उन जैसे एक प्रतिष्ठित विद्वान् का पलट जाना उनके इस विषय में दुराग्रह एवं पूर्वाग्रह के प्रमाण हैं।

स्वामी दयानन्द की हस्तलिखित आत्मकथा में यह प्रसंग इस प्रकार लिखा मिलता है-

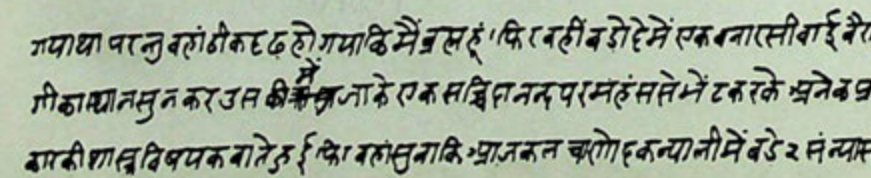

अपने इस हस्तलेख में स्वामी दयानन्द ने दूसरी पंक्ति में जहाँ काट-पीट की है, वहाँ एक शब्द की उनसे चूक हो गई है, जो है काशी । उसको कटे हुए स्थान पर पढ़ने से वही आशय निकलता है जिसके लिए हमारा आग्रह है । यथा- *" फिर वहीं बड़ौदे में एक बनारसी बाई बैरागी का स्थान सुनकर उसकी (काशी) में जाके एक सच्चिदानन्द परमहंस से भेंट करके अनेक प्रकार की शास्त्र विषयक बातें हुई । फिर वहाँ सुना कि आजकल चाणोद कन्याली में बड़े-बड़े संन्यासी---"* लेकिन स्वामी दयानन्द से उक्त प्रसंग साक्षात् सुननेवाले जब सभी लोग समाप्त हो गए और जीवनी लेखकों का उक्त मूल के अभाव में इसके थियोसोफिस्ट पत्रिका में छपे त्रुटिपूर्ण निम्न अँग्रेजी अनुवाद के प्रति ही अत्यन्ताग्रह बढ़ा तो बड़ौदा से काशी जाने का यह प्रसङ्ग उनके जीवन चरित्रों से सर्वथा निकल गया -

"At Baroda hearing from a Benares women that a meeting composed of the most learned scholars was to be held at a certain locality, I repaired thither at once; visiting a personage known as Satchitanand Paramhansa, with whom I was permitted to discuss upon various scientific and metaphysical subjects. From him I learnred also, that there were a number of great Sanyasis and Brahmcharis who resided at Chanoda, Kalyani."

जब तक बड़ौदा से पहले एक बार काशी जाने और दूसरी बार १८५५ के कुम्भ मेले के बाद पुन: काशी आने की यात्रा को स्वीकार नहीं किया जाता तब तक देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा संकलित भाग-१, पृष्ठ- १०८ के चतुर्थ अध्याय के *(जिसका लेखन स्वयं मुखोपाध्याय ने ही किया था)* इस विवरण की संगति नहीं लगाई जा सकती कि *"एक बार स्वामी जी के पैरों में फुंसियाँ निकल आई । उन्होंने कहा कि उदर में कुछ विकार है । अत: वह तीन-चार मनुष्यों को साथ लेकर यमुना पर न्योली क्रिया करने को चले गए । वहाँ जल में बैठकर तीन बार मलद्वार से जल खींचा और बाहर आकर नाभिचक्र को घुमाकर उसे बाहर निकाल दिया और उदर शुद्ध हो गया । इससे वह कुछ निर्मल हो गए । डेरे पर आकर दाल-भात खाया और अपने साथियों से कहा*

कि हमने यह क्रिया नर्मदा के किनारे एक कनफटे योगी से सीखी थी ।"

कनफटे हठयोगी से यह क्रिया सीखने की बात केवल नर्मदा की पहली ही यात्रा में सम्भव हो सकती है । दूसरी यात्रा में तो उन्होंने नर्मदा स्रोत की ओर पहुँचने तक राजयोग का पर्याप्त अध्ययन और अभ्यास कर लिया था और गंगा में बहकर आ रहे एक शव को चीर-फाड़कर और देखकर हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थों को मिथ्या पाकर उन्हें गंगा में प्रवाहित कर दिया था । तब वे भला नर्मदा स्रोत की इस दूसरी यात्रा में इस प्रकार के हठयोगियों के चक्कर में क्योंकर पड़ते ?

५- देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा लिखित इसी **'दयानन्द-चरित'** के भाषानुवाद के पृ० ११६ पर लिखा है कि *" पण्डितवर ज्वालादत्त शर्मा ने हमसे कहा था कि दयानन्द ने काशी के रामनिरञ्जन शास्त्री से कुछ काल तक कौमुदी और न्यायशास्त्र पढ़ा था ।"* इसे आपने भी मासिक **'वेदवाणी'** बहालगढ़ में मार्च, १९८५ के पृ० ४७ पर प्रकाशित अपने एक लेख में स्वीकार किया है ।

प्रश्न-५ : कृपया बतावें कि स्वामी दयानन्द ने पं० रामनिरञ्जन शास्त्री से काशी में किस समय कौमुदी और न्याय शास्त्र पढ़ा था ? यदि नहीं पढ़ा था तो पं० ज्वालादत्त शर्मा, पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय और आप तीनों ही व्यक्ति क्यों झूठ कह और लिख रहे हैं ?

उत्तर-५ : पं० ज्वालादत्त के कथन को मुखोपाध्याय ने पाद-टिप्पणी में लिखा है । यदि इस कथन पर उन्हें पूरा विश्वास होता तो मूलग्रन्थ में अवश्य लिखते । पं० ज्वालादत्त के कथन को अविश्वसनीय कहा जा सकता है क्योंकि यह व्यक्ति स्वामी जी की दृष्टि में विक्षिप्त पुरुष था (मुंशी समर्थदान को लिखा २३ अगस्त, १८८३ का पत्र)। मैंने **'वेदवाणी'**(मार्च, १९८३) के अपने लेख में पं० रामनिरञ्जन शास्त्री के बारे में जो लिखा वह देवेन्द्र बाबू के हवाले से ही लिखा था । इसमें सच-झूठ का कोई सबाल नहीं है क्योंकि स्वयं देवेन्द्रनाथ ही इस बात को लेकर आश्वस्त नहीं हैं कि यदि

स्वामी जी ने उक्त शास्त्री जी से कौमुदी और न्यायशास्त्र पढ़ा तो कब पढ़ा ? मुखोपाध्याय द्वारा किए गए शोध पर आधारित जीवनचरित के द्वितीय संस्करण (पं० घासीराम द्वारा सम्पादित) में पं० ज्वालादत्त का सन्दर्भ नहीं मिलने से प्रमाणित होता है कि १८९७ की ये पाद-टिप्पणियाँ स्वयं मुखोपाध्याय द्वारा ही निरस्त कर दी गई थीं ।

समीक्षा-५ : मुखोपाध्याय महोदय ने अपने १८९७ में प्रकाशित ग्रन्थ में पण्डितवर ज्वालादत्त शर्मा के हवाले से स्वामी दयानन्द द्वारा काशी के रामनिरञ्जन शास्त्री से कुछ काल तक कौमुदी और न्यायशास्त्र पढ़ने की बात लिखी है । डॉ० भारतीय अब इसे एक अविश्वसनीय और विक्षिप्त पुरुष का कथन मानकर अपना पीछा छुड़ा रहे हैं, जबकि मुखोपाध्याय महाशय उसे **'पण्डितवर'** कहकर आदरणीय बता रहे हैं । फिर पं० ज्वालादत्त शर्मा ऋषि दयानन्द के साथ बहुत समय तक रहे थे, उन्होंने भी ऋषि दयानन्द के मुख से उनके पूर्ववृत्त के विषय में बहुत कुछ सुन रक्खा था, अतः यदि उन्होंने मुखोपाध्याय महोदय को स्वामी दयानन्द द्वारा काशी के रामनिरञ्जन शास्त्री से कुछ काल तक कौमुदी और न्यायशास्त्र पढ़ने की बात बता दी तो उन्होंने क्या गुनाह कर दिया ? ऐसा बताने में उसका क्या स्वार्थ था जो वह झूठ बोलता ? डॉ० भारतीय बिना वजह एक तथ्य को अस्वीकार करने के लिए अपने पूर्व लेख से ही मुकर जाने का प्रयास कर रहे हैं । यदि इसी प्रकार विभिन्न लोगों द्वारा बताई गई बातों को अविश्वसनीय माना जाना था तो फिर पं० लेखराम और मुखोपाध्याय महोदय ऋषि दयानन्द की जीवन की घटनाओं को विभिन्न लोगों के पास जा जाकर संकलित करने में वर्षों का समय ही क्यों लगाते ? जबकि उनके द्वारा संकलित सभी घटनाएँ इसी प्रकार स्वामी दयानन्द के सान्निध्य में आए लोगों से पूछ-पूछकर लिखी गई हैं ।

मुखोपाध्याय महोदय की इस विषयक टिप्पणी *(प्रश्नोत्तर ४ की समीक्षा में उद्धृत)* से पता चलता है कि वे केवल इस अध्ययन का समय निर्धारण मात्र के विषय में ही ऊहापोहग्रस्त थे न कि इस वृत्तान्त को ही असत्य मान रहे थे । उन्होंने अपने द्वारा रचित और १९३३ में प्रथम बार

प्रकाशित ऋषि के जीवन चरित्र में इस बात को इसलिए अङ्कित नहीं किया होगा क्योंकि वे तब तक पूर्वोक्त ऊहापोह का अन्तिम निष्कर्ष नहीं निकाल पाए होंगे और उस समय तक उनके हाथ थियोसोफिस्ट में छपा आत्मकथा का गलत और अविश्वसनीय अनुवाद हाथ लग चुका था ।

अब मैं डॉ० भारतीय को आश्वस्त करना चाहता हूँ कि स्वामी दयानन्द ने रामनिरञ्जन शास्त्री से काशी में अध्ययन अपनी पहली काशी यात्रा में ही किया था जैसा कि स्वामी दयानन्द द्वारा कलकत्ते में १८७३ में बताई गई आत्मकाहिनी (तथाकथित अज्ञात जीवनी) में लिखा है ।

६- पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा रचित और १९३३ में सर्वप्रथम प्रकाशित जीवनचरित की चतुर्थावृत्ति (संवत् २०१८ वि० आर्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर संस्करण) के पृष्ठ ९३-९४ पर अङ्कित एक टिप्पणी में लिखा है कि *"श्रीमती परोपकारिणी सभा के मन्त्री मथुरा निवासी स्वर्गीय पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने देवेन्द्र बाबू से कहा था -'पढ़ने के लिए मैं पहले हरिद्वार में पूर्णाश्रम स्वामी के पास गया था, परन्तु वह उस समय बहुत वृद्ध हो गए थे और उन्होंने मौनव्रत धारण कर रक्खा था । इसलिए वह मुझे पढ़ाने पर सहमत नहीं हुए । जब मैंने बहुत आग्रह किया तो उन्होंने एक कागज पर लिख दिया कि यदि तुम मथुरा में जाकर विरजानन्द से पढ़ो तो तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा ।"* हमारा अनुमान है कि दयानन्द पूर्णाश्रम के पास उत्तराखण्ड की यात्रा आरम्भ करने से पूर्व (अर्थात् १८५५ ई० के पूर्वार्द्ध में) ही गए होंगे ।

प्रश्न-६ : क्या उक्त वृत्तान्त सही है ? यदि हाँ, तो स्वामी पूर्णाश्रम जी की उस समय क्या आयु रही होगी जबकि उन्होंने जिन स्वामी विरजानन्द जी के पास दयानन्द जी को पढ़ने के लिए भेजा था उनकी १८६० ई० में स्वयं की आयु ही ८१ वर्ष थी । पूर्वोक्त प्रश्न-१ के पूर्व कथ्य के अनुसार दयानन्द के ज्ञान प्राप्ति करने के पश्चात् ही देह छोड़ने के सङ्कल्पानुसार तो उन्हें तत्काल ही मथुरा पहुँचना चाहिए था । फिर वे ५ वर्षों तक यहाँ-वहाँ व्यर्थ में क्यों

भटकते रहे ? यदि नहीं, तो क्या देवेन्द्र बाबू से पण्ड्या जी ने झूठ ही यह सब कुछ कहा था ? इसे कहने के पीछे उनका क्या उद्देश्य था ?

उत्तर-६ : पण्ड्या मोहनलाल विष्णुलाल का कथन तो सर्वथा अलीक तथा मिथ्या है । उनका जन्म १८५० में हुआ । स्वामी विरजानन्द की पाठशाला में जब स्वामी दयानन्द गए हैं, उस १८६० के वर्ष में पण्ड्या जी १० वर्ष के थे । उनका हरिद्वार में स्वामी पूर्णाश्रम के पास अध्ययनार्थ जाना कब हुआ, पहले इसका निश्चय पूर्वपक्षी को करना चाहिए । पण्ड्या जी ने दण्डी जी की पाठशाला में कभी अध्ययन किया था, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता । पूर्णानन्द या पूर्णाश्रम से स्वामी विरजानन्द का परिचय मिल जाने पर भी तुरन्त स्वामी दयानन्द उनसे पढ़ने मथुरा क्यों नहीं गए, पाँच वर्षों तक इस्तत: क्यों भ्रमण करते रहे (आपके शब्दों में यहाँ-वहाँ क्यों भटकते रहे) इसका किञ्चित समाधान देवेन्द्रनाथ ने स्वयं ही दे दिया है । (द्रष्टव्य - आर्य साहित्य मण्डल का चौथा संस्करण पृ० ९४ भाग १) मैं इसे विस्तारभय से उद्धृत नहीं कर रहा हूँ । मैं मुखोपाध्याय के कथन से पूरी सहमति रखता हूँ ।

समीक्षा-६ : इस प्रश्नोत्तर में डॉ० भारतीय से यह चूक हो गई है कि उन्होंने दयानन्द के विषय में मथुरा निवासी पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया द्वारा मुखोपाध्याय महोदय को बताए गए स्वामी दयानन्द के कथन को स्वयं मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या का ही आत्मकथ्य मान लिया है जिससे उन्होंने उसके १८६० में केवल १० वर्ष का ही होने की बात लिख मारी है । यहाँ प्रसंग तो स्वामी दयानन्द के जीवनचरित्र का चल रहा है और मुखोपाध्याय महोदय लोगों से स्वामी दयानन्द के जीवनचरित्र के विषय में पूछताछ कर रहे हैं, परन्तु परोपकारिणी सभा के पूर्व मन्त्री मथुरा निवासी पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या अपने विरजानन्द के पढ़ने के विषय में बताएँ, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? यदि इस टिप्पणी के विषय में डॉ० भारतीय मुखोपाध्याय महोदय के मूलग्रन्थ का इससे सम्बन्धित अंश ही पढ़ लेते तो उन्हें यह भ्रान्ति न होती।

जब स्वामी दयानन्द नवम्बर, १८६० में स्वामी विरजानन्द के पास पढ़ने पहुँचे तब उनकी आयु ८१ वर्ष थी, ऐसा स्वामी दयानन्द ने पूना में स्वयं अपने श्रोताओं को बताया था *(द्रष्टव्य प्रश्नोत्तर- १ की पूर्वपीठिका)* तब तीन वर्ष पहले अर्थात् १८५७ में स्वामी विरजानन्द की आयु हुई ७८ वर्ष और स्वामी दयानन्द की ३३ वर्ष हुई । इस प्रकार इन गुरु-शिष्यद्वय की आयु में ४५ वर्ष का अन्तर था । इसी प्रकार का अन्तर यदि स्वामी पूर्णानन्द (या स्वामी पूर्णाश्रम) और उनके शिष्य स्वामी विरजानन्द की आयु में (४५ वर्ष का) मान लिया जाय तो स्वामी पूर्णानन्द (अथवा स्वामी पूर्णाश्रम) की उस समय आयु (१८५७ में) होगी १२३ वर्ष और स्वामी पूर्णानन्द के भी गुरु स्वामी ओमानन्द की आयु होगी १६८ वर्ष । तब यदि स्वामी दयानन्द की १८५७ के स्वातन्त्र्य समर में सक्रिय भूमिका बताने वाले लोग स्वामी पूर्णानन्द और स्वामी ओमानन्द की १८५७ में वास्तविक आयु क्रमशः ११० वर्ष और १६० वर्ष होना मानते हैं तो क्या गलत मानते हैं ? इन साधु और योगी पुरुषों का इतनी आयु प्राप्त कर पाना भी कोई अनहोनी घटना नहीं है । आज भी दयानन्द मठ दीनानगर में १०३ वर्षीय स्वामी सर्वानन्द जी महाराज जीवित हैं और तीन-चार माह पूर्व के ही समाचार पत्रों में छपा है कि - "देवास में ११४ वर्षीय सगी बहनों का एक साथ इन्तकाल, जयपुर के १३३ वर्षीय हबीब मिय्याँ की उम्र का राज, ढाका की दादियों की दादी माँ १५१ वर्षीय बेगम पोइरुनेसा का निधन हो गया जिनके १७० पोते-पोतियाँ थीं ।"

स्वामी दयानन्द १८५५ से लेकर १८६० तक यहाँ-वहाँ क्यों भटकते वा घूमते रहे, इसका विस्तार से वर्णन उनके द्वारा कलकत्ता में बताई गई अपनी आत्म काहिनी में मिलता है जिसमें उनकी १८५७ के समर में सक्रिय भागीदारी के पर्याप्त विवरण उपलब्ध हैं । इसीलिए वे पूना में सार्वजनिक रूप से बताए गए अपने पूर्व जीवन वृत्तान्त में इस अवधि के विस्तृत विवरणों को देने के विषय को टाल गए जैसा कि मैंने प्रश्नोत्तर-१ में उल्लेख किया है ।

७- पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा रचित और १९३३ में सर्वप्रथम प्रकाशित जीवनचरित की चतुर्थावृत्ति (संवत् २०१८ वि० आर्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर संस्करण) के पृष्ठ २५१-२५२ पर लिखा है कि *"मेरठ में अपने*

भक्तों से प्रेमालाप करते हुए महाराज ने अपने जीवन की कुछ घटनाएँ भी सुनाई थीं।--- आप इस समय आश्चर्य करते हैं कि मैं इतनी दूर तक वायु सेवन के लिए जाता हूँ, परन्तु अवधूत दशा में चालिस-चालिस मील चलना मेरे लिए कोई बात न थी। मैं एक बार गङ्गोत्री से चलकर गङ्गासागर तक और एक बार गङ्गोत्री से रामेश्वर तक गया था।"

प्रश्न-७ : क्या दयानन्द द्वारा अपने भक्तों को कहा गया उक्त यात्रा प्रसङ्ग सही है ? यदि हाँ, तो बताइए कि वे गङ्गोत्री से चलकर गङ्गासागर तक और पुनः गङ्गोत्री से रामेश्वर तक कब और कहाँ-कहाँ होकर गए थे ? क्या आपने अपने द्वारा लिखित **'नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती'** नामक ग्रन्थ में इन यात्राओं के विवरणों का समावेश किया है ? यदि नहीं, तो क्यों ? और यदि यह यात्रा प्रसङ्ग ही गलत है तो क्या दयानन्द ने अपने भक्तों से झूठ बोला था ?

उत्तर-७ : मेरठ में सत्सङ्गियों के समक्ष स्वामी जी ने जो कहा, उस पर हमारा निवेदन इतना ही है कि स्वामी जी ने गङ्गोत्री से गङ्गासागर तक जाने तथा पुनः दूसरी बार गङ्गोत्री से रामेश्वर तक जाने का कोई सन्दर्भ, प्रमाण दयानन्द जीवनी वाङ्मय में कहीं उपलब्ध नहीं है। मैंने अपना ग्रन्थ **'नवजागरण के पुरोधा'** पं० लेखराम तथा देवेन्द्रनाथ द्वारा प्रस्तुत जीवन चरितों के आधार पर लिखा है। इसलिए उसमें वे ही बातें आई जो पूर्व लिखित जीवनियों में हैं। मैंने अपनी कल्पना के आधार पर कुछ भी नहीं लिखा। यदि गङ्गासागर और रामेश्वर यात्रा का कोई प्रामाणिक वृत्तान्त (इतिहास सिद्ध, कल्पनाश्रित नहीं) हमें बताएँगे तो उसका स्वागत है। सच तो यह है कि मेरठ के कथन के साक्षी अब संसार में नहीं हैं। प्रो० महेशप्रसाद प्रदत्त आवागमन- तालिका तो यह भी नहीं बताती कि स्वामी जी कभी गङ्गोत्री भी गए थे। दक्षिण में स्वामी जी महाराष्ट्र के सतारा नगर से आगे के किसी प्रदेश में नहीं गए थे, यह जीवनी लेखकों का ध्रुव-निश्चय है।

समीक्षा-७ : स्वामी दयानन्द ने अपने भक्तों से मेरठ में जो यह कहा था कि वे एक बार गंगोत्री से गंगासागर तक और दूसरी बार गंगोत्री से रामेश्वर तक गए थे, सो ठीक ही कहा था । ये यात्राएँ उन्होंने १८५५-६० की कालावधि में ही की थीं । इनके विषय में विस्तृत विवरण कलकत्ते वाली दयानन्द की आत्मकाहिनी और मेरे द्वारा स्वामी दयानन्द की तीनों आत्मकथाओं (कथित वा लिखित) के संयुक्त सम्पादित संस्करण *'महर्षि दयानन्द सरस्वती का अपना जन्मचरित्र'* में विस्तार से उल्लिखित है । इन्हें मैंने अपनी उक्त पुस्तक के परिशिष्ट-५ में निम्न प्रकार लिपिबद्ध किया है-

गंगोत्री से गंगासागर (और पुरी पर्यन्त)- अर्थात् ऋषिकेश, देहरादून, यमुनोत्तरी, उत्तरकाशी, गंगोत्तरी, केदारनाथ, बसुधारा, सन्तोपन्थ, अलकापुरी शिखर, मानसोद्भव तीर्थ, मानसरोवर, कैलास, ल्हासा, दार्जिलिंग, नाटोर, बैरकपुर (में मंगलपाण्डे से भेंट), कलकत्ता, गंगासागर, नवद्वीप, कामरूप, परशुरामकुण्ड, नेपाल, कलकत्ता, पुरी (मार्गशीर्ष सं० १९१३ वि० से आषाढ़ सं० १९१४ वि० तदनुसार नवम्बर, १८५६ से जून, १८५७ तक)

गंगोत्री से रामेश्वर (और लंका पर्यन्त)- अर्थात् काशीपुर, द्रोणसागर, मुरादाबाद, सम्भल, गढ़मुक्तेश्वर, फर्रुखाबाद, श्रृंगीरामपुर, कानपुर-प्रयाग के मध्यवर्ती स्थान, मिरजापुर, काशी, चण्डालगढ़, नर्मदा स्रोत की ओर, नासिक, श्रङ्गेरी, बंगलौर, मैसूर, कांची, त्रिचिनापल्ली, मदुरा, रामेश्वर, धनुष्कोटि, तलैमन्नार, कोलम्बो, काण्डी, आदमश्रङ्ग, अनुराधापुर, पुनः धनुष्कोटि, कन्याकुमारी (में नाना साहब, तात्याटोपे एवं दुर्जयराव से भेंट एवं नाना साहब को संन्यासाश्रम की दीक्षा)--- हाथरस, मुरसान, मथुरा (मार्गशीर्ष १९१४ वि० से कार्तिक १९१७ वि० तक तदनुसार नवम्बर, १८५७ से नवम्बर, १८६० ई० तक । अब डॉ० भारतीय इन्हें अपनी प्रतिज्ञानुसार स्वीकार करते हैं अथवा नहीं, यह देखना शेष है क्योंकि ये कल्पनाश्रित नहीं हैं अपितु स्वयं स्वामी दयानन्द द्वारा **१८७३ में २२ से ३१ मार्च** के मध्य कलकत्ते में एकान्त में बैठकर लिखवाई हुई हैं । देखिए- डॉ० भारतीय द्वारा प्रेरणा देकर आर्यसमाज कलकत्ता से इसी वर्ष अप्रैल, २००३ में प्रकाशित कराया गए लघु ग्रन्थ **'दयानन्द प्रसंग'** का पृष्ठ- २३, जिसमें उक्त समयावधि के आगे लिखा

है- *"स्वामी जी ने एकान्त में (निस्संगभावे) ग्रन्थ प्रणयन करने में अपने को लगाया (आत्मनियोग)। सन्ध्या समय उनका उपदेश हुआ।"* और कलकत्ते की इस आत्मकाहिनी के उपसंहार में लिखा है- *"१६ दिसम्बर, १८७२ को मैं कलकत्ता पहुँचा था, आज ३१ मार्च, १८७३ है। अब हुगली और वर्धमान की तरफ भी मुझे जाना है। इसके पश्चात् बिहार की तरफ प्रस्थित हो जाऊँगा। कल से मैं मौन धारण करूँगा। परम प्रभु आप लोगों की सदिच्छा पूर्ण करे।"*

यदि जीवनी लेखकों का यह ध्रुव निश्चय है कि दक्षिण में स्वामी जी महाराष्ट्र के सतारा नगर के आगे के किसी प्रदेश में नहीं गए थे तो मुखेपाध्याय महाशय द्वारा संकलित जीवन चरित्र में स्वामी दयानन्द का यह कथन कैसे आ गया कि वे एक बार गंगोत्री से रामेश्वरम् तक गए थे। सत्यार्थप्रकाश में रामेश्वरम् के प्रसंग में स्वामी दयानन्द जी लिखते हैं कि- " उस (रामेश्वर के) मन्दिर में भी (अर्थात् पुरी के जगन्नाथ मन्दिर की तरह) दिन में अँधेरा रहता है। दीप दिन-रात जला करता है। जब जल की धारा छोड़ते, तब उस जल में बिजुली के समान दीप का प्रतिबिम्ब चलकता है और कुछ नहीं। न पाषाण घटे, न बढ़े, जितना का उतना रहता है। ऐसी लीला करके बिचारे निर्बुद्धियों को ठगते हैं।" यहाँ ध्यातव्य है कि स्वामी दयानन्द ने पुरी के जगन्नाथ मन्दिर और रामेश्वरम् के महादेव मन्दिर की परस्पर तुलना की है जो उनके इन दोनों मन्दिरों के ही देखे होने का अकाट्य प्रमाण है। दयानन्द के इस कथन की विद्यमानता में डॉ० भारतीय का यह लिखना कि स्वामी दयानन्द सतारा के आगे दक्षिण में कभी गए ही नहीं, पूर्वाग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिससे दयानन्द की जीवनी विषयक अनुसन्धान के सारे रास्ते ही बन्द हो जाते हैं।

८- ऋषि दयानन्द के अमर ग्रन्थ **'सत्यार्थ प्रकाश'** के ग्यारहवें समुल्लास में लिखा है कि "जब संवत् १९१४ (अर्थात् सन् १८५७ ई०) के वर्ष में तोपों के मारे (द्वारिका में) मन्दिर, मूर्तियाँ अँग्रेजों ने उड़ा दी थीं, तब मूर्ति कहाँ गई थी ? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की, शत्रुओं (अर्थात् अँग्रेजों को) को मारा, परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टाँग भी न तोड़ सकी। जो

श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके (अर्थात् अँग्रेजों के) धुर्रे उड़ा देता और ये (अर्थात् अँग्रेज) भागते फिरते (अर्थात् भारतवर्ष छोड़कर इङ्गलैण्ड चले गए होते)।"

प्रश्न-८ : क्या ऋषि दयानन्द के उक्त लेख से यह प्रगट नहीं होता कि १८५७ ई० के विप्लव में ३३ वर्षीय युवक दयानन्द की सहानुभूति अँग्रेजों के विरुद्ध लड़ रहे भारतीय लोगों के प्रति रही थी ? अन्यथा क्या वह १८५७ की इन सब घटनाओं से सर्वथा निर्लिप्त तथा बेखबर रहकर व्यर्थ ही यहाँ-वहाँ भटकता फिर रहा था ?

उत्तर-८ : सत्यार्थप्रकाश की रचना १८५७ के अठारह वर्ष पश्चात् १८७५ में हुई । ध्यान दें कि सत्यार्थप्रकाश के इस आदिम (१८७५ में प्रकाशित) संस्करण में १८५७ (१९१४ वि०) की घटनाओं का उल्लेख नहीं है, न तो अँग्रेजों द्वारा मूर्तियाँ तोड़ने का और न बाघेर लोगों की वीरता का । यदि आपने प्रथम संस्करण न देखा हो तो मेरे पुस्तकालय में आकर देख लें तथा इस बारे में आश्वस्त हो जाएँ । १८५७ तथा बाघेर लोगों की चर्चा द्वितीय परिशोधित संस्करण में आई है । १८५७ में दयानन्द की मनःस्थिति क्या थी और वह विदेशी राज्य को किस दृष्टि से देखता था, यह जानना कठिन है । इसका यह अर्थ नहीं कि दयानन्द के मानस में उद्भूत भावों से हम अपरिचित हैं । हाँ, जब १८७५ में सत्यार्थप्रकाश का प्रथम समुल्लास छपा, उस समय स्वामी जी के अँग्रेजी शासन के प्रति जो भाव थे, उसे उक्त ग्रन्थ के पृ० ३८४ पर देखा जा सकता है -"आजकाल अँग्रेज के राज्य में कुछ-कुछ सुधारना और सुख भया है--- राज्य का आजकाल बहुत सुख है ।" आदि, तथापि कालान्तर में स्वामी जी ने विदेशी राज्य के प्रति जो विरक्ति दिखाई और स्वदेशी राज्य को सर्वोपरि उत्तम ठहराया, वह विस्मरण की वस्तु नहीं है । १८५७ की घटनाओं में दयानन्द की प्रत्यक्ष या परोक्ष भूमिका अद्यापि असिद्ध है । कल्पना करने तथा पृथ्वीसिंह मेहता की भाँति सम्भावना व्यक्त करना भिन्न बात है ।

समीक्षा-८ : स्वामी दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश के १८७५ वाले प्रथम संस्करण में द्वारिका का हमारे द्वारा उद्धृत पूर्वोक्त प्रसंग उल्लिखित नहीं हुआ था, इसीलिए तो वे आगे ८ वर्ष तक और जीवित रह सके अन्यथा अँग्रेज उनका प्राणान्त १८७५ में ही करा देते । जब १८८२ के अन्त में वैदिक यन्त्रालय प्रयाग में सत्यार्थप्रकाश का द्वितीय संस्करण छपना आरम्भ हुआ और वह वहाँ अगले दो वर्षों तक छपता रहा *(जिसमें उक्त प्रसंग सम्मिलित था)* तो २७ अगस्त, १८८३ को वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धकर्त्ता मुंशी समर्थदान ने स्वामी दयानन्द को *(जो उस समय जोधपुर में थे)* लिखा- **"सत्यार्थप्रकाश** ३२० पृष्ठ तक छप चुका है।" इससे एक सप्ताह पूर्व २० अगस्त को उन्होंने उन्हें लिखा था- "सत्यार्थप्रकाश भी बीच-बीच में छपता है । कुल ३८ फार्म (अर्थात् ३०४ पृष्ठ) छपे हैं । ११वाँ समुल्लास छप रहा है।" ऐसा अधूरा छपा ३६४ पृष्ठीय सत्यार्थप्रकाश भी ऋषि से ठाकुर गिरधारी सिंह के नाम से ५ रु० देकर जोधपुर में खरीद लिया गया *(द्रष्टव्य लेखराम कृत स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र पृष्ठ ८३५)* जबकि छपने के बाद पूरे सत्यार्थप्रकाश का मूल्य मात्र ढाई रु० ही (डाक व्यय सहित) रक्खा गया था । सो इस प्रकार बिक गए सत्यार्थप्रकाश के ३२०वें पृष्ठ पर द्वारिका की उक्त घटना वर्णित थी । अत: किसी प्रकार जब इस घटना का विवरण अँग्रेजों तक पहुँचा गया तो एक महीने के अन्दर ही २९ सितम्बर, १८८३ को उन्हें दूध में सँखिया पिलवा दिया गया जिससे उनका ३० अक्टूबर, १८८३ को प्राणान्त हो गया । इसलिए यदि स्वामी दयानन्द १८५७ के प्रसंगों का अपने व्याख्यानों और लेखों में उल्लेख करने से बचते रहे तो उसका एकमात्र कारण देश के उद्धार के लिए उनकी अधिक काल तक जीवित बने रहने की इच्छा ही थी लेकिन उनसे जैसे ही इसमें चूक हुई, वे अपने प्राण गवाँ बैठे।

९- स्वामी वेदानन्द दयानन्द तीर्थ (१८९२-१९५६) अपने **'वेद परिचय'** नामक ग्रन्थ के पृष्ठ-१२ पर (विजयकुमार-गोविन्दराम-हासानन्द संस्करण, २००० ई०) लिखते हैं कि "प्रसङ्ग से एक बात का यहाँ उल्लेख करना अनुचित न होगा कि पलासी के रणक्षेत्र में पराजित होने पर भी भारतीयों ने अँग्रेजों

के प्रति अपनी विद्रोह-भावना को कभी भी शान्त न होने दिया। तब से संवत् १९१४ वि० (१८५७ ई०) तक दूसरे-तीसरे वर्ष कहीं न कहीं कोई उपद्रव होता ही रहा। हाँ, संवत् १९१४ वि० के महान् प्रयत्न के, जिसमें स्वामी विरजानन्द सरस्वती तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एक-दूसरे से अपरिचित रहकर सहयोग दिया था, विफल होने के बाद, कोई उग्र प्रयत्न नहीं हुआ। आश्चर्य की बात है कि संवत् १९१४ वि० के स्वातन्त्र्य-महासंग्राम में भाग लेने वाले सभी राजा जिस प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती के अनुगामी थे, वे अँग्रेजी का एक अक्षर भी न जानते थे, किन्तु वैदिक एवं आर्ष-साहित्य के पारङ्गत विद्वान् तथा उस परम्परा के अमृत के आकण्ठपीत विद्वान् होने से उसके पालक एवं पोषक थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती यद्यपि उस समय जिज्ञासु होकर विचर रहे थे, तथापि इस पुनीत कार्य में उन्होंने शक्ति भर योग दिया था। ये भी नव शिक्षा से वञ्चित थे।"

इसी ग्रन्थ में स्वामी वेदानन्द जी का जीवन परिचय देते हुए प्रा० राजेन्द्र जिज्ञासु ने लिखा है कि 'वे (इतिहास सहित) अनेक विषयों के गम्भीर विद्वान् थे।' और 'उनकी प्रामाणिक लेखन में आस्था का यह एक बहुत बड़ा उदाहरण है।'

प्रश्न-९ : क्या स्वामी वेदानन्द सरीखे इतिहासज्ञ और प्रामाणिक लेखन कर्त्ता द्वारा लिखा गया उपर्युक्त विवरण भी भावुकतावश ही लिखा गया था ? क्या ऐसा लिखते हुए उनके समक्ष स्वामी दयानन्द और स्वामी विरजानन्द जी की १८५७ ई० के युद्ध में सक्रियता अथवा भागीदारी विषयक कोई भी प्रमाण उपस्थित नहीं था ? यदि नहीं था तब तो आर्यसमाज के वीतराग संन्यासी तक सभी लोग झूठे ही ठहरेंगे ?

आशा है डॉ० भवानीलाल भारतीय उक्त ९ प्रश्नों का उत्तर देकर अपनी स्थिति स्पष्ट करेंगे ताकि इस विषय में अन्तिम निष्कर्ष निकालने में आर्य लेखकों को सुविधा हो सके।

आदित्यमुनि वानप्रस्थ

उत्तर-९ : स्वामी वेदानन्द के आपके द्वारा प्रदत्त उद्धरणों में निम्न अमान्य हैं :-

(अ) '१९१४ वि० के महान प्रयास में स्वामी विरजानन्द ने एक दूसरे से अपरिचित रहकर सहयोग दिया ।' इस कथन की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं है ।

(आ) '१९१४ वि० के स्वातन्त्र्य महासंग्राम में भाग लेने वाले सभी राजा जिस प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी विरजानन्द के अनुगामी थे--- आदि ।' यह कथन पूर्णतया मिथ्या है । १९१४ वि० की हलचल में भाग लेने वाले प्रमुख राजा (राजपुरुष थे) दिल्ली का बादशाह बहादुरशाह, नाना साहब पेशवा, झाँसी की रानी, बिहार के जगदीशपुर के तालुकेदार कुँ० जगदीशसिंह तथा अन्य । इनमें से किसी का भी दण्डी जी से कोई परिचय नहीं था । इन्हें दण्डी जी का अनुगामी बताना घोर मिथ्या है। दण्डी जी के अनुयायी (अधिक से अधिक सम्पर्क में आए) राजा थे- जयपुर के सवाई रामसिंह, अलवर के राजा विनयसिंह (बन्नेसिंह), भरतपुर के बलवन्तसिंह, मुरसान (जमींदारी) के टीकमसिंह आदि। इनमें किसी ने १८५७ में कोई पराक्रम नहीं किया। यदि १८५७ में स्वामी जी की भूमिका का स्वामी वेदानन्द के पास कोई पुष्ट प्रमाण था तो उसे उन्होंने लिखा क्यों नहीं ? मैं आर्यसमाज के किसी वीतराग संन्यासी को झूठा नहीं कहता किन्तु इतिहास भावुकता से नहीं लिखा जाता, वह प्रमाण चाहता है ।

भवदीय,

भवानीलाल भारतीय

पुनश्च - मैंने इस विषय पर लिखने से अपनी लेखनी को विराम दे दिया है। *'अरसिकेषु काव्य निवेदनम्'* वाली स्थिति आ गई है । सम्प्रति इसे प्रकाशनार्थ नहीं भेज रहा हूँ । भविष्य में मेरी ओर से इस अध्याय को समाप्त समझें ।

भवानीलाल भारतीय

समीक्षा-९ : डॉ० भारतीय अपने पूर्वाग्रह को स्थिर रखने के लिए आर्यसमाज के सम्मानित संन्यासियों तक को मिथ्यावादी मानने से नहीं हिचकते, यह उनके इस प्रश्न के उत्तर से साफ जाहिर है । स्वामी वेदानन्द का जन्म स्वामी

दयानन्द के देहावसान के ९ वर्ष बाद ही १८९२ में हुआ था। अत: वे अपने यौवनकाल में उन लोगों का सान्निध्य प्राप्त कर सके थे जो स्वामी दयानन्द की १८५७ के समर में भागीदारी से भिज्ञ थे। इसीलिए उन्होंने पूर्वोक्त उल्लेख किया है। **'वेद परिचय'** में इसका विस्तृत विवरण इसलिए नहीं दिया गया क्योंकि इस पुस्तक का उद्देश्य ऐसे विवरण देना न होकर पाठकों को वेद से परिचित कराना था।

स्वामी विरजानन्द के विषय में पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित **'विरजानन्द प्रकाश'** के तृतीय संस्करण (संवत् २०३५) का पृष्ठ-१०१ देखें जिसमें स्वामी विरजानन्द को १८५७ के कुछ कर्णधारों को सम्बोधित करते हुए बताया गया है। क्या इन सब बातों के होते हुए भी एक डॉ० भारतीय ही सच बोल और लिख रहे हैं और बाकी सभी लोग झूठे और स्वामी दयानन्द की जीवनी के विषय में षड़यन्त्रकारी हैं?

निष्कर्ष

इस लेख में जो कुछ लिखा गया है उससे स्पष्ट होता है कि ऋषि दयानन्द और उनके गुरु स्वामी विरजानन्द की १८५७ के स्वातन्त्र्य समर में अपनी-अपनी भूमिका थी जिसका उन्होंने निर्वाह किया था, परन्तु इस विषय में उन्होंने सार्वजनिक हित को ध्यान में रखते हुए केवल देशोद्धार की भावना के वशीभूत होकर ही मौन धारण किए रखना उपयुक्त समझा। इसीलिए स्वामी दयानन्द अपने भक्तों को कहा करते थे कि ***"देहान्त से पूर्व हम अपने माता-पितादि का नाम और पूर्ववृत्त प्रगट कर देंगे। यदि इस समय ऐसा करेंगे तो गोलमाल होगा।"*** *(द्रष्टव्य मुखोपाध्याय द्वारा संकलित जीवन चरित्र भाग-२, पृष्ठ- २३२)*। इस विषय में जिन पाठकों को अधिक जानने की इच्छा हो वे हमारे द्वारा सम्पादित स्वामी दयानन्द का **'अपना जन्मचरित्र'** पढ़ें।

उत्तरार्द्ध

समस्या और उसका समाधान

१९८२ से मैं दयानन्द के जीवन के उन वर्षों के विषय में अनुसन्धानरत रहा हूँ जिनके विषय में उनके जीवन चरित्रों से कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। ये वर्ष हैं सन १८५६ से लेकर १८६० तक के चार वर्ष। इनसे पूर्व का दयानन्द का प्रारम्भिक जीवन-चरित्र हमें उन्हीं के शब्दों में उपलब्ध है और बाद के वर्षों के विषय में जीवनी लेखकों ने पर्याप्त खोज-बीन करके उसे लिखा ही है। परन्तु इस चार वर्षीय अवधि पर कोई भी जीवनी लेखक प्रकाश नहीं डाल पाया। कारण यही रहा कि स्वयं दयानन्द ने इस काल की अपनी गतिविधियों को छिपाए रखना ही उपयुक्त समझा और इस समय तक उनका जीवन इतना सार्वजनिक नहीं हो पाया था कि उसकी चर्चा अन्य लोगों से सुनी जा सके। इस विषय में जब किसी भक्त ने उनसे पूछा तो दयानन्द ने कहा कि '*देहान्त से पूर्व हम अपने माता-पितादि का नाम और पूर्व वृत्त प्रकट कर देंगे। यदि इस समय ऐसा करेंगे, तो गोलमाल होगा*'[1]। 'यहाँ **गोलमाल** शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है।

१८७५ में '**सत्यार्थप्रकाश**' का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। इसे उन्होंने १८७४ में लिखाया था। इसकी पाण्डुलिपि के अन्त में उन्होंने अपना संक्षिप्त परिचय भी दिया था जिसमें लिखा है कि '*ऐसे ही देश-देशान्तर में भ्रमण किया।*' दयानन्द के ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले जानते हैं कि उनके द्वारा लिखित एक भी शब्द व्यर्थ अथवा निरर्थक नहीं है। तो जो यहाँ देश-देशान्तर में भ्रमण करने का उल्लेख है, उसमें देश और देशान्तर क्या हैं? '**सत्यार्थप्रकाश**' के ११वें समुल्लास में उन्होंने स्वयं लिखा है कि '*यह आर्यावर्त्त देश ऐसा है, जिसके सदृश भूगोल में कोई दूसरा देश नहीं*' और आठवें समुल्लास में लिखा है कि '*उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल,*

१- ऋ० दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र (भाग-२, पृ० २३२)

पूर्व और पश्चिम में समुद्र तथा सरस्वती, पश्चिम में अटक नदी, पूर्व में द्वषद्वती जो नेपाल के पूर्व भाग के पहाड़ से निकल के बंगाल और आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर होकर दक्षिण के समुद्र में मिली है, जिसे ब्रह्मपुत्रा कहते हैं और जो उत्तर के पहाड़ों से निकल के दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में आकर मिली है। हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं, उन सबको आर्यावर्त्त इसलिए कहते हैं कि यह आर्यावर्त्त देश अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त्त कहाया है।' इसी प्रकार अमेरिका, यूरोप, कन्धार तथा ईरान से भारतवासियों के प्राचीन सम्बन्धों का विवरण देने के उपरान्त दयानन्द **'सत्यार्थप्रकाश'** के ही १०वें समुल्लास में लिखते हैं कि *'जो देश-देशान्तर द्वीप-द्वीपान्तर में न जाते होते तो ये सब बातें क्योंकर हो सकती थीं ?'*

दयानन्द के इन कथनों से उनकी परिभाषा के देश और देशान्तर का हमें परिज्ञान होता है, परन्तु यदि दयानन्द के *'देश-देशान्तर में भ्रमण करने'* के शब्द सार्थक हैं, तो हमें उनके जीवनचरित्रों में हिमालय, आसाम, पूर्वी बंगाल, रामेश्वर आदि तक उनके भ्रमण करने का वृत्तान्त क्यों नहीं मिलता ? और कुछ एक देशान्तरों यथा तिब्बत और लंका में जाने के विषय में दयानन्द के जीवनचरित्र मौन क्यों हैं ?

मेरठ में दयानन्द ने अपने भक्तों से कहा था कि *'मैं एक बार गंगोत्री से चलकर गंगासागर तक और एक बार गंगोत्री से रामेश्वर तक गया था[२]।'* जब उन्होंने यह बात कही थी तब वहाँ थियोसोफिकल सोसायटी के संस्थापक कर्नल एच० एस० अल्काट और मैडम एच० पी० ब्लावट्स्की भी उपस्थित थीं। अत: मैडम ने अपनी पुस्तक *'फ्राम दी कैव्स एण्ड जंगल्स ऑफ हिन्दुस्तान'* के २०वें पृष्ठ पर लिखा कि 'Dayanand has covered the whole peninsula from Cape Comorin to the Himalayas, and from Calcutta to Bombay.' कर्नल ने भी

२- ऋ० दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र (भाग-२, पृ० २५२)

जब दयानन्द की मृत्यु हो गई तो 'थियोसोफिस्ट' पत्र के दिसम्बर, १८८३ के अङ्क में उन्हें श्रद्धाञ्जलि देते हुए लिखा है- 'There are few towns and but one province we belive namely Madras that pandit Dayanand did not visit in furtherence of his missionary work, and fewer still where he has not left impress of his remarkable mind behind him.' पूना प्रवचनों में दयानन्द ने स्वयं कहा कि 'इस प्रकार हिन्दुस्तान के सब भागों में मैं गया[३]।' और 'कश्मीर से लेकर नेपाल की सीमा तक हिमालय का जो उच्च प्रदेश है, वही देवलोक था और उस समय आज की तरह उस स्थान पर बर्फ नहीं पड़ती थी, ऐसा विदित होता है। प्राचीन समय में यदि इतनी बर्फ पड़ती होती तो देवलोगों की देवलोक में स्थिति कैसी होती ? इस देवलोक में भद्रपुरुष प्रत्येक स्थान पर राज्य करते थे। इस विषय में आज तक भारतखण्ड में प्रमाण मिलता है।' और 'विष्णु वैकुण्ठवासी थे अर्थात् उनकी राजधानी का स्थान वैकुण्ठ था। महादेव कैलासवासी थे। कुबेर की अलकापुरी नगरी थी। इन सब बातों का केदारखण्ड में वर्णन किया गया है। **मैं स्वयं भी इस प्रदेश में घूमा हूँ** और एक बार बर्फ में अपना देह गलाकर संसार से मुक्त हो जाऊँ, इस हेतु से प्राचीन अलकापुरी जिस पर्वत पर थी, वहाँ तक गया था। परन्तु वहाँ पर देह त्याग करना कोई पुरुषार्थ नहीं। ज्ञान सम्पादन करके पुरुषार्थ और परोपकार करना चाहिए, ऐसा मन में विचार लेकर लौट आया।'

दयानन्द के इन सब कथनों और लेखों से हम सबके मस्तिष्क में यह चित्र उभरता है कि उनका भ्रमण क्षेत्र अति व्यापक था और उसमें हिमालय से लेकर कन्याकुमारी और रामेश्वर पर्यन्त तथा गंगोत्री से लेकर गंगासागर पर्यन्त आर्यावर्त्त का समस्त भूभाग सम्मिलित था। यही नहीं उन्होंने कुछ देशान्तर की भी यात्राएँ की थीं जिनको वे सार्वजनिक रूप से किसी राजनैतिक बाध्यता के कारण व्यक्त नहीं कर सके।

३- परन्तु अनुवादकों ने ऋ० द० के इस कथन को उत्तर भारत तक ही सीमित कर दिया।

सो यदि दयानन्द का भ्रमण क्षेत्र इतना व्यापक था, तो उसका प्रभाव उनके द्वारा सृजित साहित्य पर भी पड़ा होगा । तो आइए, इस पर भी हम एक नजर डाल लें ।

दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में लिखा था कि *'तब भीम ने निश्चय कर लिया कि यही भैंसा (महादेव) है । भीम उसको पकड़ ने को दौड़ा तब वह भैंसा पृथिवी में गुप्त हो गया । उसका सिर नेपाल में निकला जिसका नाम पशुपति रखा है तथा उसका पग काश्मीर में निकला जिसका नाम अमरनाथ रखा और चूतड़ वहीं निकला जिसका नाम केदार है और जंघा जहाँ निकली, उसका नाम तुंगनाथादिक रखा है । ऐसे पंच केदार लोगों ने रच लिए हैं । इसमें विचार करना चाहिए कि नेपाल में भैंसे का श्रृंग, नाक, कान कुछ नहीं दीख पड़ता है, कश्मीर में खुर भी नहीं दीख पड़ते । ऐसे ही अन्यत्र भी भैंसे का कुछ चिह्न नहीं दीख पड़ता, सर्वत्र पाषाण ही दीख पड़ते हैं ।'* सत्यार्थप्रकाश के प्रचलित संस्करणों के ग्यारहवें समुल्लास में भी हमें लिखा मिलता है कि *'पशुपति एक मन्दिर और पंचमुखी मूर्ति का नाम धर रक्खा है । जब कोई न पूछे तभी ऐसी लीला बलवती होती है । परन्तु जैसे तीर्थ के लोग धूर्त धनहारे होते हैं वैसे पहाड़ी (अर्थात् नेपाली) लोग नहीं होते । **वहाँ की** (अर्थात् नेपाल की) **भूमि बड़ी रमणीय और पवित्र है ।'***

दयानन्द का यह लेख नेपाल के पशुपतिनाथ के मन्दिर, अमरनाथ और कश्मीर के अन्य भागों के देखे होने का प्रमाण है । नेपाल की भूमि की रमणीयता तथा पवित्रता का जो प्रमाण पत्र दयानन्द ने दिया है, वह वे बिना उसे देखे नहीं दे सकते थे ।

नेपाल से कलकत्ता आते हुए दयानन्द मुंगेर होकर आए थे । इसी से वे इस स्थान से पूर्व से परिचित थे । फलतः जीवन चरित्रों के अनुसार जब *'दयानन्द पहली बार ४ अक्टूबर, १८७२ के प्रातः काल मुंगेर पहुँचे तो बिना किसी से पूछे हुए एक ओर को चल दिए, **मानों वे उस स्थान से जहाँ उन्हें ठहरना था, पहले से परिचित थे** । कुछ दूर चलकर एक साधु के आश्रम*

पर पहुँच गए जिसमें दो कमरे थे, कुआँ था, फुलवारी थी । वहाँ पहुँचकर स्वामी जी ने राजनाथ विद्यार्थी और कहार से आश्रम में ही आसन लगाने की आज्ञा दी और वहाँ ही ठहर गए[४]।' इस प्रकार जिस साधु के आश्रम में दयानन्द उसकी अनुपस्थिति में ही ठहर गए थे, वह उनका पूर्व परिचित था ।

कामाख्या (आसाम) के विषय में दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि 'वहाँ अन्धे लोग भेड़ के तुल्य एक के पीछे दूसरे चलते हैं । कूपखाड़े में गिरते हैं, हट नहीं सकते । वैसे ही एक मूर्ख के पीछे दूसरे चलकर मूर्तिपूजा रूप गढ़े में फँसकर दुःख पाते हैं ।' कामाख्या का यह सजीव चित्रण उनके उसे देखे होने का प्रमाण है ।

दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के दशवें समुल्लास में महाभारत के कुछ श्लोकों का अर्थ करते हुए लिखा कि 'पिता का वचन सुनकर शुकाचार्य पाताल से मिथिलापुरी की ओर चले । प्रथम मेरु अर्थात् हिमालय से ईशान, उत्तर और वायव्य देश में जो देश बसते हैं, उनका नाम हरिवर्ष था । अर्थात् हरि कहते हैं बन्दर को; उस देश के मुनष्य अब भी रक्तमुख अर्थात् वानर के समान भूरे नेत्र वाले होते हैं । जिन देशों का नाम इस समय यूरोप है, उन्हीं को संस्कृत में हरिवर्ष कहते थे । उन देशों को देखते हुए और जिनको हूण-यहूदी भी कहते हैं, उन देशों को देखकर चीन में आए । चीन से हिमालय और हिमालय से मिथिलापुरी आए[५] ।'

इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि दयानन्द को चीन से भारत आने वाले इस मार्ग की जानकारी थी, जबकि महाभारत के सम्बन्धित श्लोकों का ऐसा शाब्दिक अर्थ नहीं है ।

सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में दयानन्द इस प्रश्न का कि 'मनुष्यों की आदि सृष्टि किस स्थल में हुई ?' यह उत्तर दिया है कि 'त्रिविष्टप अर्थात् जिसको तिब्बत कहते हैं ।' सो दयानन्द ऐसा उत्तर देने में किस प्रकार समर्थ हुए ? इसके पीछे उस अञ्चल में ऐसी लोक-कथाओं का

४- ऋ० द० सरस्वती का जीवन-चरित्र (भाग-१, पृ० २५३)

५- 'अज्ञात-जीवनी' के अनुसार दयानन्द इसी मार्ग से ल्हासा से दार्जिलिंग आए थे।

प्रचलित होना है जिनसे जाना जाता है कि आदि सृष्टि तिब्बत में ही हुई थी। हम सब बहुश्रुत एवं बहुपठित लोगों को भी जब इस प्रचार के युग में भी इनकी जानकारी नहीं है तो दयानन्द को आज से १२८ वर्ष पूर्व इसकी जानकारी क्या उनके बिना तिब्बत गए होनी सम्भव थी ?

दयानन्द के जीवन चरित्रों में तो उनके गोमुखी और उत्तरकाशी जाने का भी उल्लेख नहीं मिलता है परन्तु वे सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं कि *'गोमुख का आकार टका लेने वालों ने बनाया होगा और वही पहाड़ पोप का स्वर्ग है। वहाँ उत्तरकाशी आदि स्थान ध्यानियों के लिए अच्छा है। परन्तु दुकानदारों के लिए वहाँ भी दुकानदारी है।'* सो उनका यह लेख उनके इन स्थानों के देखे होने में प्रमाण है।

पुरी के जगन्नाथ मन्दिर के विषय में दयानन्द ने लिखा है कि *'जगन्नाथ में वाममार्गियों ने भैरवी चक्र बनाया है क्योंकि सुभद्रा- श्रीकृष्ण, बलदेव की बहिन लगती है। उसी को दोनों भाइयों के बीच स्त्री और माता का स्थान पर बैठाई है। जो भैरवी चक्र न होता तो यह बात कभी न होती।---जब बहुत से लोग दर्शन को आते हैं, तब इतना बड़ा मन्दिर है कि जिसमें दिन में भी अन्धेरा रहता है और दीपक जलाना पड़ता है।'* इत्यादि

इस प्रकार दयानन्द ने जगन्नाथ मन्दिर का सजीव और रोचक खण्डन किया है, जो उनके उसे देखे होने का प्रमाण है। इस पर कहा जा सकता है कि ये बातें उन्होंने उस व्यक्ति से जान-समझकर लिखी होंगी जिसने बारह वर्ष पर्यन्त जगन्नाथ की पूजा की थी और जो विरक्त होकर मथुरा में उनसे मिला था। वस्तुत: उसका उल्लेख दयानन्द को केवल कलेवर बदलने के प्रसंग में ही करना पड़ा, क्योंकि यह कृत्य उसी वर्ष में किया जाता है जब आषाढ़ मास लौंध का महीना होता है, प्रतिवर्ष नहीं। चूँकि दयानन्द पुरी में आषाढ़ शुक्ल २, संवत् १९१४ विक्रमी (२३ जून, १८५७) से प्रारम्भ होने वाले नौ दिवसीय रथयात्रा के उत्सव में सम्मिलित हुए थे जिस वर्ष कि आषाढ़ मास लौंध का महीना नहीं था, अत: कलेवर बदलने सम्बन्धी जानकारी के लिए ही उन्हें उस व्यक्ति का सहारा लेना पड़ा था। जगन्नाथ मन्दिर का बड़ा होना,

उसमें दिन में भी अन्धेरा रहना और उसकी निवृत्ति के लिए दीपक का जलाया जाना प्रत्यक्ष नेत्रों के ही विषय हैं, इसलिए दयानन्द ने इस मन्दिर को देखा हुआ था, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है ।

आगे जाकर जब दयानन्द रामेश्वर पहुँचे तो उसके विषय में उन्होंने ११वें समुल्लास में ही लिखा कि '*(रामेश्वर के) मन्दिर में भी (जगन्नाथ के मन्दिर के समान) दिन में अन्धेरा रहता है । दीपक रात-दिन जला करते हैं। जब जल की धारा छोड़ते हैं, तब उस जल में बिजली के समान दीपक का प्रतिबिम्ब चलकता है और कुछ भी नहीं । न पाषाण घटे, न बढ़े जितना का उतना रहता है । ऐसी लीला करके विचारे निर्बुद्धियों को ठगते हैं ।*' सो यह सब विवरण भी प्रत्यक्ष आँखों का ही विषय है और दो मन्दिरों की तुलना में जो उन्होंने '**भी**' शब्द का प्रयोग किया है, यह तुलना क्या इन दोनों मन्दिरों को बिना देखे की जा सकती थी ?

इस प्रकार दयानन्द दक्षिण भारत में भी गए थे । तभी तो वे सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में लिखते हैं कि '*जैसे दक्षिणात्य लोगों की स्त्रियाँ वस्त्र धारण करती हैं, वैसा ही पहले था, क्योंकि कभी वस्त्र अशुद्ध नहीं रहता, सब दिन पुरुषों के वस्त्र शुद्ध रहते हैं, वैसे स्त्री लोगों के भी शुद्ध रहते हैं। इससे इस प्रकार का वस्त्र धारण करना उचित है ।*' और '*गुजराती, महाराष्ट्र, तेलगु, द्राविड़ तथा कर्नाटक- इनमें भोजन के बड़े बखेड़े हैं । इन पाँचों में से गुजराती लोगों के भोजन का बड़ा पाखण्ड है । महाराष्ट्रादिक चारों द्रविणों का तो एक भोजन है, परन्तु गुजराती लोगों का आपस में बड़ा भेद है ।*'

'**वर्णोच्चारण शिक्षा**' की भूमिका में दयानन्द ने लिखा है कि '*जैसे ज्ञा, इसमें ज्+ञ्+आ, ये तीन अक्षर मिले हैं । इसका उच्चारण भी जकार, ञकार और आकार का ही होना चाहिए किन्तु ऐसा न हो कि जैसे दक्षिणात्य लोग अर्थात् द्राविड़, तेलगु, कर्नाटक और महाराष्ट्र 'द्नान' गुजराती लोग 'ग्यांन' और पञ्चगौड़ 'ग्यान' ऐसा अशुद्ध उच्चारण अन्ध परम्परा से वेदादि शास्त्रों के पाठ में भी करते हैं ।*'

पूर्वोक्त तीनों उद्धरण दयानन्द के दक्षिणात्यों के साथ निकट सम्पर्क में आए होने के प्रमाण हैं ।

इस प्रकार दयानन्द द्वारा प्रणीत साहित्य से ही यह सिद्ध हो जाता है कि उन्होंने जो *'हिन्दुस्तान के सब भागों में जाने'* और *'गंगोत्री से गंगासागर तक'* तथा *'गंगोत्री से रामेश्वर तक'* जाने का तथा *'देश-देशान्तर में भ्रमण करने'* की जो बातें कहीं अथवा लिखी हैं, वे सब सत्य ही हैं ।

अब सवाल उठता है कि इन सब स्थानों की यात्राएँ दयानन्द ने कब कीं ? इसके लिए यदि हम उनकी आत्मकथा और जीवनचरित्र देखें तो पता चलेगा कि गृहत्याग से लेकर १८५५ में हरिद्वार के कुम्भ के मेले में सम्मिलित होने से पूर्व तक तो उन्होंने ऐसी कोई यात्रा की ही नहीं थी और १४ नवम्बर, १८६० को जब वे विरजानन्द के पास पढ़ने के लिए मथुरा पहुँचे, उसके आगे का विस्तृत विवरण उनके जीवन चरित्रों में उपलब्ध ही है जिनमें भी इन प्रदेशों की यात्रा करने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है । अत: यह निश्चित हो जाता है कि दयानन्द ने ये सारी यात्राएँ १८५५-६० के मध्य में ही की हैं जिनका अधिकृत विवरण अब तक अनुपलब्ध है ।

४ अगस्त, १८७५ को पूना में अपने पूर्व-चरित्र का विवरण देते हुए दयानन्द ने कहा था कि *'(अहमदाबाद से) मैं जाते-जाते हरिद्वार गया । वहाँ उस समय कुम्भ का मेला भरा हुआ था । वहाँ से हिमालय में अलखनन्दा जहाँ से निकली हैं, वहाँ गया । वहाँ केवल बर्फ थी, पानी अत्यन्त ठण्डा था । वहाँ पानी में मेरे पैर में कुछ लग जाने से घाव हो गया और रक्त बहने लगा । हिमालय पर्वत पर जाकर यहाँ देह छोड़ दूँ, ऐसी मेरी इच्छा हुई । परन्तु पुन: मन में विचार आया कि ज्ञानप्राप्ति करने के पश्चात् देह छोड़ना चाहिए, ऐसा निश्चय करके मैं मथुरा आया ।'*

दयानन्द के जीवन चरित्रों के पाठक जानते हैं कि वे १८५१ के अन्त तक अहमदाबाद में रहे थे और १४ नवम्बर, १८६० को स्वामी विरजानन्द जी के पास मथुरा पहुँचे थे । इस प्रकार पूर्वोक्त घटनाक्रम लगभग ९ वर्ष का बैठता है । इस बीच कुम्भ का मेला हरिद्वार में फरवरी-अप्रैल, १८५५ में हुआ था ।

इस अवस्था में आगे जाकर **'थियोसोफिस्ट'** पत्रिका में यदि दयानन्द ने अपना जन्म-चरित्र न छपवाया होता तो उनके जीवन चरित्रों का जो स्वरूप आज होता, उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है । पूना-प्रवचन के इस पूर्व-चरित्र के आधार पर जो जीवन चरित्र तब लिखे जाते, उनमें निश्चय ही आबू पर्वत पर योगाभ्यास के लिए बिताए गए तीन वर्षों का उल्लेख न होता तथा अलखनन्दा स्रोत से लेकर मथुरा पहुँचने तक के विवरणों के मध्य काशीपुर, द्रोणसागर, मुरादाबाद, सम्भल, गढ़मुलेश्वर, फर्रुखाबाद, श्रङ्गीरामपुर, कानपुर-प्रयाग के मध्यवर्ती स्थानों, मिरजापुर, काशी, चण्डालगढ़ और आगे नर्मदा की ओर की यात्रा का उल्लेख न होता ।

यहाँ विचारणीय प्रश्न यह भी है कि क्या दयानन्द ने इस अवधि का मात्र इतना ही विवरण दिया था अथवा वह पूना-प्रवचनों के लेखक महादेव गोविन्द रानड़े महोदय द्वारा मात्र इतना ही लिखा जा सका था । किञ्चित विचार करने पर यह तो माना जा सकता है कि दयानन्द ने आबू जाने का उल्लेख एक वाक्य में कर दिया हो और उत्तराखण्ड के कुछ स्थानों पर जाने का भी उल्लेख किया हो परन्तु कथ्य की शीघ्रता और लेखन की शिथिलता के कारण रानडे महोदय उन्हें नोट न कर पाए हों । परन्तु यह नहीं माना जा सकता है कि अलखनन्दा स्रोत से मथुरा पहुँच तक के ४ वर्षों में दयानन्द जिन-जिन स्थानों पर गए, उनका उल्लेख तो उन्होंने अपने व्याख्यान में किया हो किन्तु रानडे महोदय उनमें से किसी भी स्थान को नोट न कर पाए हों । तब स्वभावत: ही यह प्रश्न उठता है कि सार्वजनिक रूप से कहे गए इस पूर्व-चरित्र में ऐसा कौन सा कथ्य था, जो दयानन्द छिपाना चाहते थे ?

इतिहासज्ञ जानते हैं कि १८५६-६०, तक के ४ वर्ष भारत में काफी उथल-पुथल के वर्ष रहे हैं क्योंकि इन वर्षों में भारत का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम लड़ने की तैयारी की जाकर वह अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ा गया था । अत: जब तक दयानन्द की इस युद्ध में कोई सक्रिय भूमिका न रही हो, तब तक अन्य कोई ऐसा कारण नहीं था कि वे इस काल की अपनी यात्राओं एवं गतिविधियों पर किञ्चित भी प्रकाश न डालते जबकि **'पूर्व-चरित्र'** में ऐसा अन्यत्र नहीं किया गया है । अन्यत्र उसमें केवल सिद्धपुर से बड़ौदा जाने के

मध्य अहमदाबाद का और बड़ौदा से नर्मदा-तट घूमने के मध्य काशी जाने का ही स्पष्ट उल्लेख नहीं हो पाया है जो हमारी दृष्टि में लेखक प्रमाद के फलस्वरूप ही है ।

इस प्रसङ्ग में दयानन्द द्वारा कहे गए ये शब्द हमें याद आते हैं कि '*यदि इस समय ऐसा करेंगे तो गोलमाल होगा ।*' सो सारा राज १८५६ से ६० तक के इन चार वर्षों में ही छिपा हुआ है और यदि कोई राज न होता तो दयानन्द को इन चार वर्षों में की गई अपनी यात्राओं का विवरण देने में क्या आपत्ति हो सकती थी ?

१८७९-८० में मैडम एच०पी० ब्लावट्स्की और कर्नल एच० एस० आल्काट की मासिक पत्रिका '**थियोसोफिस्ट**' में दयानन्द ने अपना जो '**जन्म-चरित्र**' छपवाया, उसकी चर्चा पहले की जा चुकी है । उसमें इस अवधि के लिए उत्तराखण्ड की यात्रा का कुछ अधिक विस्तार से वर्णन मिलता है और आगे काशीपुर से नर्मदास्रोत की ओर की यात्रा का कुछ विवरण मिलता है । इसके उपरान्त यह आत्मकथा भी मौन हो जाती है । क्योंकि वह आगे विभिन्न कारणों से '**थियोसोफिस्ट**' पत्रिका में छप ही नहीं सकी । इससे दयानन्द के जीवन के विषय में हमारा ज्ञान पूना के '**पूर्व-चरित्र**' और '**थियोसोफिस्ट**' के इस '**जन्मचिरत्र**' के उल्लेखों तक ही सीमित होकर रह गया है । फलत: दयानन्द ने १८५६ से १८६० के मध्य जो महत्त्वपूर्ण यात्राएँ कीं, वे संसार की आँखें से ओझल ही बनी रहीं ।

१६ नवम्बर, १८६९ को दयानन्द और काशी के पण्डितों के मध्य मूर्तिपूजा पर हुए प्रसिद्ध '**काशी-शास्त्रार्थ**' का विवरण जब उस समय के अनेक समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ तो दयानन्द की यश: कीर्ति का विस्तार दिग्दिगन्त में हो गया । चूँकि ब्रह्मसमाज के लोग मूर्तिपूजा के पहले से ही विरुद्ध थे, अत: इस अद्भुत संन्यासी की कीर्ति सुनकर वे उसके प्रति स्वाभाविक रूप से ही आकृष्ट हुए और जब '**काशी-शास्त्रार्थ**' के पश्चात् दयानन्द मिरजापुर होकर माघ शुक्ल ५ संवत् १९२६ को प्रयाग पधारे जहाँ उस समय कुम्भ का मेला भर रहा था, तो वहाँ ब्रह्मसमाज के प्रधान नेता

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि भी पधारे और उन्होंने स्वामी जी से भेंट की। भेंट के समय दयानन्द ने देवेन्द्रनाथ ठाकुर से वैदिक पाठशाला स्थापन का प्रस्ताव किया जिस पर ठाकुर महाशय ने स्वामी जी से कलकत्ता पधारने का निवेदन किया और आश्वासन दिया कि उसी समय इस प्रस्ताव पर विचार किया जा सकेगा।

इसी निमन्त्रण के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती काशी-शास्त्रार्थ के ३७ महीने बाद कलकत्ते में १६ दिसम्बर, १८७२ को पहुँचे और वहाँ १६ अप्रैल, १८७३ पर्यन्त ४ मास तक रहे। इसी बीच उनका कलकत्ता के अनेक गणमान्य व्यक्तियों से परिचय और प्रेमालाप हुआ, जिनमें बैरिस्टर चन्द्रशेखर सेन, पं० सत्यव्रत सामश्रमी , बैरिस्टर उमेशचन्द्र वन्द्योपाध्याय, केशवचन्द्र सेन, द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, समुद्रनाथ ठाकुर, त्रिदेव भट्टाचार्य, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, कृष्णदास पाल, राजा राजेन्द्रनाथ मलिक, महाराज जितेन्द्रनाथ ठाकुर, उत्तरपाड़ा के जमींदार जयकृष्ण मुखोपाध्याय, भूदेव मुखोपाध्याय, राजेन्द्रपाल मित्र, राजनारायण वसु, रामतनु लाहड़ी, रामेशचन्द्रदत्त आई० सी०एस०, उमेशचन्द्र मित्र, सूर्यकान्त आचार्य चौधरी, रजनीकान्त गुप्त, यतीन्द्रमोहन ठाकुर, डॉ० महेन्द्रलाल सरकार, प्रतापचन्द्र मजूमदार, द्वाराकानाथ गंगोली, गंगाधर कविराज, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, अक्षयकुमार दत्त, महेशचन्द्र न्यायरत्न आदि प्रमुख थे। इन सभी लोगों ने दयानन्द के व्यक्तित्व और कर्तृत्व से प्रभावित होकर उनका पूर्व-चरित्र जानने की इच्छा प्रकट की।

अत: इस कार्य के लिए और स्वामी जी के उपदेशों को लिपिबद्ध करने के लिए देवेन्द्रनाथ ठाकुर, पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और केशवचन्द्र सेन ने कुछ लेखकों को नियुक्त कर दिया जो संस्कृतज्ञ थे और स्वामी जी द्वारा संस्कृत में कथित वाणियों को यथाशक्ति लिपिबद्ध करते थे।

इस सम्बन्ध में दयानन्द के जीवनी लेखक पं० लेखराम आर्यपथिक ने लिखा है कि "*सन् १८७२ में जब वे कलकत्ता में पधारे और संस्कृत भाषा में धर्म प्रचार आरम्भ किया तो यहाँ के कतिपय सम्मानित सज्जनों ने भी उनके जीवन-चरित्र सम्बन्धी वृत्तान्त को जानने का प्रयत्न किया, परन्तु असफल*

रहे । विद्वान् संन्यासियों के अतिरिक्त (जिन्हें वे कुछ वृत्तान्त कभी मित्रता के नाते बता दिया करते थे), साधारण गृहस्थियों के सामने ऐसे वृत्तान्त बताना वे निरर्थक समझते रहे[६] *।* ''

पं० लेखराम के इस लेख से यह तो सिद्ध ही है कि कलकत्ते में दयानन्द का जीवन सम्बन्धी वृत्तान्त जानने का उपक्रम किया गया था परन्तु इसमें असफल रहने का जो उल्लेख हुआ है, वह वस्तुत: इस कारण से है कि स्वयं पं० जी ही कलकत्ते में लिखित इन विवरणों को प्राप्त करने में असफल रहे थे क्योंकि उस समय आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज के सम्बन्ध अच्छे नहीं थे । पं० लेखराम जी का यह लिखना कि स्वामी जी संन्यासियों के अतिरिक्त गृहस्थियों को अपना जीवन वृत्तान्त नहीं बताते थे, वास्तविकता से परे है, क्योंकि बाद में पूना में अपने '**पूर्व-चरित्र**' पर उन्होंने जो व्याख्यान दिया, उसके सभी श्रोता संन्यासी नहीं थे और '**थियोसोफिस्ट**' पत्रिका में जो '**जन्म-चरित्र**' प्रकाशित कराया उसके सभी पाठक भी संन्यासी नहीं थे । इसके अतिरिक्त अन्य अवसरों पर भी वे अपने जीवन की कुछ घटनाएँ वार्तालाप में प्रसङ्ग आने पर सुना दिया करते थे जिनके सुनने वाले भी प्राय: गृहस्थ ही हुआ करते थे, ऐसा ऋषि दयानन्द के जीवन-चरित्रों के अध्येता सभी पाठक जानते हैं ।

कालान्तर में जब ऋषि दयानन्द के योग शिष्य और आदि ब्रह्मसमाज के प्रचारक श्री हेमचन्द्र चक्रवर्ती द्वारा बंगला-भाषा में लिखित 'बंगाल में ऋषि दयानन्द के चार मास' विषयक '**दयानन्द प्रसंग**' नामक पुस्तक १९५४ में प्रथम बार प्रकाशित हुई तो उससे पता चला कि इसमें यह उल्लेख है कि-

''**२२ से ३१ मार्च, १८७३ के मध्य** : *स्वामी जी एकान्त में ग्रन्थरचना में संलग्न रहे । अवकाश के समय उनका उपदेश हुआ ।* ''

इस उल्लेख के अनुसार स्वामी जी किस ग्रन्थ-रचना में संलग्न रहे, इसका विवरण उनके जीवन चरित्रों में उपलब्ध नहीं होता है । अत: सभी लोग यह मानकर बैठ गये थे कि जब ऐसा ग्रन्थ अब तक उपलब्ध नहीं हुआ

६- पं० लेखराम कृत महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवनचरित्र (प्रथम भाग, अध्याय-१)

है तो उसके भविष्य में भी उपलब्ध होने की सम्भावना नहीं है । परन्तु दीपावली १९८२ के आसपास की बात है, जब संयोग से पं० हेमचन्द्र चक्रवर्ती द्वारा किए गए इस उल्लेख और **'योगी का आत्म-चरित्र'** नामक पुस्तक के उपसंहार पर हमारी दृष्टि एक साथ पड़ी, जिसमें यह उल्लेख था कि *"१६ दिसम्बर, १८७२ को मैं कलकत्ता पहुँचा था, आज ३१ मार्च, १८७३ है । अब हुगली और वर्धमान की तरफ भी मुझे जाना है । इसके पश्चात् बिहार की तरफ प्रस्थित हो जाऊँगा । कल से मौन धारण करूँगा । परम प्रभु आप लोगों की सदिच्छा पूर्ण करें ।"* तब हमें ही सर्वप्रथम यह पता चला कि **'योगी का आत्म-चरित्र'** ही वह ग्रन्थ है जिसकी रचना में दयानन्द कलकत्ते में एकान्त में संलग्न रहे थे क्योंकि इस पुस्तक का उपसंहार लिखाने का दिनांक (३१ मार्च, १८७३) और ग्रन्थ समाप्ति का **'दयानन्द-प्रसंग'** में उल्लिखित दिनांक (२२ से ३१ मार्च, १८७३) परस्पर मेल खा रहे थे । बस तभी से मैं **'योगी का आत्म-चरित्र'** को लेकर अनुसन्धान कार्य में जुट गया और ५ वर्षों को चिन्तन-मनन और अनुसन्धान के फलस्वरूप ऋषि दयानन्द का **'अपना जन्म-चरित्र'** नामक पुस्तक का सम्पादन कर उसे १९८७ में आर्य जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया ।

इस प्रकार **'योगी का आत्म-चरित्र'** स्वयं दयानन्द द्वारा ही लिखाया हुआ सिद्ध हो जाता है ।

दयानन्द द्वारा कलकत्ता में लिखाया गया यह आत्म-चरित्र उसके गवेषक, उद्धारकर्त्ता और अनुवादक स्व० पं० दीनबन्धु जी वेदशास्त्री बी०ए० वेदाचार्य को कैसे, कब और कहाँ से प्राप्त हुआ, इसका पूरा विवरण उनके द्वारा लिखित **'अज्ञात जीवनी की पृष्ठभूमि'** में उपलब्ध है । उनके अनुसार इस कार्य में उन्हें १९२३ से लेकर १९६८ तक के ४५ वर्षों का समय लगा जिसकी चर्चा इस कालावधि में विभिन्न अवसरों पर वे करते रहे ।

इस प्रकार कलकत्ता के स्वर्गीय पं० दीनबन्धु जी वेदशास्त्री को अपनी ४५ वर्षों की निरन्तर खोजबीन के उपरान्त बंगला भाषा में लिखे गए दयानन्द की जीवनी सम्बन्धी जो मूल हस्तलेख अथवा उनकी प्रतिलिपियाँ प्राप्त हुई,

इन्हें उन्होंने १९६८ में क्रमबद्ध कर उनका हिन्दी अनुवाद करना प्रारम्भ किया। यह अनुवाद करके वे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के साप्ताहिक मुखपत्र **'सार्वदेशिक'** को क्रमशः भेजते रहे जिसमें यह सारा विवरण **'महर्षि दयानन्द सरस्वती की अज्ञात जीवनी'** शीर्षक से उसके ५ जनवरी, १९६९ से लेकर ८ नवम्बर, १९७० तक के अङ्कों में ६६ किश्तों में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ।

इस आत्मचरित्र से ही सर्वप्रथम दयानन्द की उन यात्राओं की जानकारी मिली जिनकी आर्यजगत् को पिछले १०० वर्षों से तलाश थी और जिनके विस्तार क्षेत्र की चर्चा पहले की जा चुकी है। इससे हमें दयानन्द की तीन नई यात्राओं की जानकारी मिलती है जो उन्होंने १८५५-६० के मध्य कीं। इनमें से पहली कुम्भ मेले के उपरान्त उत्तराखण्ड के श्रीनगर से कश्मीर के श्रीनगर तक जाने पुनः वहाँ से अमरनाथ, गन्दरबाल, कंगन, मटयन, कार्गिल, लेह, हिमिस गोम्पा तक जाने और वहाँ से वापस उत्तराखण्ड तक आने की है। दूसरी उत्तराखण्ड की यात्रा के उपरान्त गंगोत्री से गंगासागर तक की अर्थात् ऋषिकेश, देहरादून, यमुनोत्तरी, उत्तरकाशी, गंगोत्तरी, केदारनाथ, वसुधारा, सतोपन्थ, अलकापुरी शिखर, मानसोद्भव तीर्थ, मानसरोवर, कैलास, ल्हासा, दार्जिलिंग, नाटोर, बैरकपुर, कलकत्ता, गंगासागर, नवद्वीप, कामरूप, परशुराम कुण्ड, नेपाल, कलकत्ता और पुरी तक की यात्रा है जो १८५६-५७ में की गई थी। तीसरी यात्रा नासिक से प्रारम्भ होकर श्रङ्गेरी, बैंगलोर, मैसूर, काञ्ची, त्रिचिनापल्ली, मदुरा, रामेश्वर, धनुष्कोटि, तलैमन्नार, कोलम्बो, कांडी, आदम श्रङ्ग, अनुराधापुर, पुनः धनुष्कोटि और कन्याकुमारी आने तक की है, जिससे आर्यावर्त का वह सारा क्षेत्र दयानन्द द्वारा घूम लिया जाता है जिसका संकेत हमने पहले दिया था। इसलिए **'अज्ञात जीवनी'** में ऐसी कोई बात नहीं थी जिसे लेकर उसे मनगढ़न्त ठहराया जा सके अथवा उसे एक औपन्यासिक रचना करार दिया जाय क्योंकि **'अज्ञात जीवनी'** को उपन्यासमात्र अथवा षड्यन्त्र कहने वालों से पूछा जा सकता है कि-

१- जब **'पूना-प्रवचन'** और **'थियोसोफिस्ट'** में छपे **'जन्मचरित्र'** के आधार पर लिखे गए सभी जीवन चरित्रों में दयानन्द का जन्म से लेकर

नर्मदास्रोत पहुँचने तक का जीवन चरित्र उपलब्ध था और केवल सन् १८५६ से लेकर १८६० तक के मध्यवर्ती ४ वर्षों का जीवन चरित्र ही अज्ञात था, तब यदि कोई षड्यन्त्रपूर्वक इस अन्तराल को दयानन्द द्वारा मेरठ में कहे गए इस वाक्य कि *"मैं एक बार गंगोत्री से चलकर गंगासागर तक और एक बार गंगोत्री से रामेश्वर तक गया था।"* को आधार बनाकर भरने का प्रयास करता तो उसके लिए यही स्वाभाविक होता कि वह दयानन्द की नर्मदास्रोत पर समाप्त हो रही इस यात्रा को आगे बढ़ाकर रामेश्वर तक ले जाता और उन्हें वहाँ से वापस गंगोत्री लाकर गंगासागर पर्यन्त घुमाकर ४ वर्षीय अन्तराल की पूर्ति करता। परन्तु **'अज्ञातजीवनी'** के षड्यन्त्रकारियों ने ऐसा नहीं किया, क्यों ?

२- सभी आत्मचरित्रों और जीवनचरित्रों में कुम्भ मेले (१८५५) के उपरान्त सीधे उत्तराखण्ड की यात्रा पर जाने का उल्लेख था। **'अज्ञातजीवनी'** के षड्यन्त्रकारियों को इसके मध्य कश्मीर और लद्दाख तक की यात्रा डालने का साहस कैसे हुआ ?

३- इसी प्रकार उत्तराखण्ड की यात्रा के उपरान्त दयानन्द का काशीपुर आकर नर्मदास्रोत तक की यात्रा का विवरण उपलब्ध था, लेकिन **'अज्ञात जीवनी'** के षड्यन्त्रकारियों को इसे नजरअन्दाज कर उत्तराखण्ड से ही दयानन्द की कैलाश, मानसरोवर; तिब्बत, पूर्वोत्तर भारत, नेपाल और पुरी तक की यात्राओं का विवरण देने का साहस कैसे हुआ ?

४- **'अज्ञात-जीवनी'** के षड्यन्त्रकारी जब षड्यन्त्र करने पर तुल ही गए थे तो उन्होंने दयानन्द द्वारा स्वयं लिखाई गई उत्तराखण्ड की विस्तृत यात्रा और आगे काशीपुर से नर्मदास्रोत तक की उपलब्ध यात्राओं का विवरण क्यों छोड़ दिया ? इनका उपयोग तो वे अपनी इस तथाकथित औपन्यासिक रचना में कर ही सकते थे।

५- दयानन्द के जितने आत्मचरित्र और जीवनचरित्र १९६९-७० से पूर्व उपलब्ध थे उनमें टिहरी पहुँच के सन्दर्भ में लिखा था कि *'इनमें से तन्त्र की पुस्तकें मेरी देखी हुई नहीं थी, इसलिए उनसे माँगी।'* इसके विपरीत

इसके पूर्व ही काशी में दयानन्द द्वारा तन्त्रशास्त्रों का पाठ करने का उल्लेख कोई षड्यन्त्रकारी कैसे कर सकता था, जबकि बड़ौदा से काशी जाना भी विवादास्पद था ? **'अज्ञातजीवनी'** के इस अंश के ११ मई, १९६९ के 'सार्वदेशिक' के अङ्क में प्रकाशन के ६ वर्ष बाद जब मार्च, १९७५ में पहली बार दयानन्द की आत्मकथा का हस्तलेख प्रकाशित हुआ जिसमें लिखा था कि *''तब मैंने कहा कि और ग्रन्थ तो मैंने देखे हैं, परन्तु तन्त्रग्रन्थ देखना चाहता हूँ।''* दयानन्द के इस कथन का यह आशय कदापि नहीं है कि उन्होंने तन्त्रग्रन्थों को टिहरी पहुँचने से पूर्व काशी में कतई देखा ही नहीं था। इसका आशय तो मात्र इतना ही है कि उन्होंने इस विषय के थोड़े से ही ग्रन्थ देखे थे। अत: वे कुछ ग्रन्थ और देखना चाहते थे। अधिकाधिक जानने की इसी जिज्ञासावश उन्होंने आगे जाकर श्रीनगर में भी तन्त्रग्रन्थों को देखा ? तब क्या ये षड्यन्त्रकारी भविष्य में स्पष्ट हो सकनेवाली बात का भी पूर्वज्ञान रखते थे जो उन्होंने वर्तमान जानकारी के विरुद्ध यह सब **'अज्ञात-जीवनी'** में लिखा ?

उल्लेखनीय है कि अभी तक जिन स्वामी सच्चिदानन्द परमहंस से दयानन्द की भेंट बड़ौदे में हुई बताई जाती थी, वह नवीन अनुसन्धानों से गलत सिद्ध हो गई है। क्योंकि उक्त परमहंस जी काशी के ही रहने वाले थे जैसा कि **'अज्ञात-जीवनी'** में कहा गया है।

इस प्रकार हमारे सम्मुख दयानन्द के तीन आत्मचरित्र क्रमश: **'कलकत्ता-कथ्य'** **'पूना-प्रवचन'** और थियोसोफिस्ट पत्रिका के लिए लिखित **'जन्म चरित्र'** आते हैं। इन तीनों आत्मचरित्रों के पारस्परिक संगतिकरण की समस्या आर्य विद्वानों के सम्मुख चिरकाल से थी, परन्तु कोई भी आर्य विद्वान् इस समस्या को इस सिद्धान्त के आधार पर कि 'एक व्यक्ति एक समय में एक ही स्थान पर रह सकता है' हल नहीं कर पाया था। सौभाग्य से यह कार्य मैंने ही २२ मार्च से ३१ मार्च, १९८३ के मध्य प्रथम बार सम्पन्न किया और ***'ऋषि दयानन्द के हरिद्वार से मथुरा तक के साढ़े पाँच वर्ष'*** शीर्षक शोध-प्रबन्ध लिखकर जब उसे मई, १९८३ में मुद्रित कराकर आर्य विद्वानों

को विचारार्थ भेजा तो उसका अभूतपूर्व स्वागत हुआ । इस प्रकार दयानन्द के जीवनचरित्रों के सम्बन्ध में उस समस्या का हल हो गया जो इससे पिछले लगभग १०० वर्षों से संसार के सामने थी । परन्तु इन तीनों आत्मचरित्रों के संयोजन के उपरान्त भी कुछ अवधियाँ ऐसी रह जाती हैं जिनके लिए किसी भी आत्मचरित्र में कुछ भी नहीं लिखा अथवा कहा गया है । ऐसी समयावधियाँ हैं-

(क) **श्रीनगर (उत्तराखण्ड) से श्रीनगर (काश्मीर) की यात्रा (१८५५):** चूँकि दयानन्द को इसकी वापसी यात्रा लिखानी अभीष्ट नहीं थी, अत: इस यात्रा को भी उन्होंने नहीं लिखाया, ऐसा प्रतीत होता है ।

(ख) **श्रीनगर (काश्मीर) से श्रीनगर (उत्तराखण्ड) की यात्रा (१८५५-५६):** इस अवधि में दयानन्द ११ अक्टूबर, १८५५ को हरिद्वार के पहाड़ पर अगले स्वतन्त्रता संग्राम की तैयारी विषयक एक सभा में सम्मिलित हुए थे । श्री निहालसिंह आर्य (दिल्ली) के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती इसी अवधि में ११ बार नाना साहब से मिले थे और हो सकता है कि वे इसी अवधि में बिठूर (कानपुर) भी गए हों ?

(ग) **पुरी से उत्तरभारत की यात्रा (जुलाई से अक्टूबर, १८५७):** इस अवधि में दिल्ली में स्वातन्त्र्य युद्ध लड़ा गया था जिसमें क्रान्तिकारियों को पराजय मिली थी । इस समय दयानन्द दिल्ली के आस-पास सक्रिय थे ।

(घ) **नर्मदस्रोत से नासिक तक की यात्रा (१८५८-५९):** यह वह समय था जब तात्याटोपे होशंगाबाद के निकट नर्मदा को पार कर मुलताई होते हुए नासिक के उत्तर में छोटा उदयपुर की ओर बढ़ रहा था ।

(ङ) **कन्याकुमारी से मथुरा तक की यात्रा (१८६०):** दयानन्द ने नाना साहब को कन्याकुमारी में संन्यास दीक्षा देकर उन्हें विदा कर दिया । पुन: वे कहाँ-कहाँ होकर मथुरा पहुँचे, इसका विवरण अज्ञात है । द्वारिका की एक घटना से, जो सत्यार्थप्रकाश में वर्णित है, यह अनुमान होता है कि वे द्वारिका होकर मथुरा पहुँचे होंगे । स्व० पं० श्रीकृष्ण शर्मा,

आर्योपदेक राजकोट के अनुसार *''कहा जाता है कि नाना साहब पुनः महर्षि को मिले थे जिसके फलस्वरूप अपनी जन्म भूमि के प्रान्त सौराष्ट्र में ही उनके गुप्तवास के लिए महर्षि ने प्रबन्ध कर दिया था। सौराष्ट्र के राजनीतिक वातावरण में घर-घर में आज भी (अर्थात् १९६४ में भी) चर्चा चलती रहती है कि नाना साहब का सन्ध्याकाल मोर्वी में है और उनके किसी भाई या साथी का अन्तकाल सीहोर (सौराष्ट्र) में व्यतीत हुआ था। सौराष्ट्र के पत्रों में अनेक ऐसे लेख छपे हैं जिनमें बतलाया गया है कि सन् १८५६ की क्रान्ति के पश्चात् एक विशालकाय प्रतिभा सम्पन्न साधु ने मोर्वी के नगर सेठ को आकर एक पत्र दिया था। उसके आधार पर नगर सेठ ने उनको आश्रय दिया था। उस साधु ने नगर सेठ के बीमार पुत्र की चिकित्सा भी की थी जिससे वह पुत्र अच्छा हो गया। वह साधु कौन था ? वह किसका पत्र लेकर आया था ? इन प्रश्नों का एक ही उत्तर दिया जाता है कि वे साधु थे श्री नाना साहब पेशवा और वह पत्र था महर्षि दयानन्द का।''*

इस प्रकार पूर्वोक्त समयावधियों का वैसा होना जिनमें दयानन्द की १८५७ के स्वातन्त्रय युद्ध में सक्रिय भागीदारी के कुछ संकेत अन्य स्रोतों से ही मिलते हैं, परन्तु उनके अपने लेख व कथ्य के रूप में नहीं, यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि उनकी इस युद्ध में सक्रिय एवं महत्त्वपूर्ण भागीदारी थी, तभी उन्होंने इन अवधियों की अपनी गतिविधियाँ नहीं लिखाईं।

१८५७ के भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में दयानन्द की सहानुभूति किस पक्ष के साथ थी, यह उनके स्वयं के एक लेख से स्पष्ट है। सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में वे लिखते हैं कि *'जब संवत् १९१४ (अर्थात् सन् १८५७) के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर, मूर्तियाँ अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं, तब मूर्ति कहाँ गई थी ? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की, शत्रुओं (अर्थात् अंग्रेजों) को मारा, परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टाँग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके (अर्थात् अँग्रेजों के) धुर्रे उड़ा देता और ये (अर्थात् अँग्रेज) भागते फिरते (अर्थात् भारतवर्ष छोड़ कर चले जाते)।''* यही नहीं इसके लिए उन्होंने भारतीयों को इस काल में युद्ध करने की प्रेरणा

भी दी होगी, यह परोक्षरूप से उनके **संस्कृतवाक्य प्रबोध** नामक पुस्तक में उपलब्ध इस प्रश्नोत्तर से सुस्पष्ट है कि "*इस समय सभा में किस विषय पर विचार करना चाहिए ? युद्ध अर्थात् लड़ाई का । उसके साथ युद्ध करना चाहिए वा नहीं ? यदि करना चाहिए, तो कैसे ? यदि धर्मात्मा हो तब तो उससे युद्ध करना योग्य नहीं और जो पापी हो तो उसके साथ युद्ध करना ही चाहिए । वह अन्याय से प्रजा को निरन्तर पीड़ा देता है, इस कारण से बड़ा पापी है । यदि ऐसा है तो शस्त्र-अस्त्र फेंकने वा चलाने में और युद्ध में कुशल, बड़ी लड़ने वाली, खजाना और अन्नादि सामग्री सहित सेना युद्ध के लिए भेजनी चाहिए । सच है, इसमें हम सब लोग सम्मति देते हैं ।*"

प्रश्न यह है कि क्या दयानन्द अंग्रेजों को अन्यायी समझते थे ? उत्तर यह है कि अवश्य । क्योंकि उन्होंने कहा था कि '*अंग्रेज लोग अपने मनुष्यों पर अत्यधिक कृपा दृष्टि रखते हैं । यदि कोई गोरा या फिरंगी किसी देशी की हत्या कर दे और वह न्यायालय में कह दे कि मैंने शराब पी हुई थी तो उसको छोड़ देते हैं । यह एक बड़ा अन्याय है । यही दशा बिल्कुल दुर्योधन की थी । जब उसकी आँखें अपने नियत स्थान से निकल कर मस्तक पर चली गई तो राज्य का सत्यानाश हो गया । इसी प्रकार यहाँ भी यदि अधिक अन्याय करेंगे तो राज्य अधिक न रहेगा जैसा कि उन्होंने लखनऊ के बलवे में कुछ अंग्रेजों की हत्या के बदले में अनाथ और निरपराध हिन्दुस्तानियों को मार डाला*[७] ।'

सो युद्ध कैसे लड़ा जाना चाहिए, इसका विवरण दयानन्द ने **सत्यार्थप्रकाश** के छठे समुल्लास में 'मनुस्मृति' के कुछ श्लोकों के आधार पर दिया है । परन्तु उसमें केवल श्लोकों का अर्थ ही नहीं है, उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर भी कुछ बातें जोड़ी हैं । यथा- '*सब राजपुरुषों को युद्ध करने की विद्या सिखावे और आप सीखे तथा अन्य प्रजाजनों को भी सिखावे । जो पूर्व शिक्षित योद्धा होते हैं, वे ही अच्छे प्रकार लड़ा-लड़ा जानते हैं*[८]। जब नगर,

---

७- पं० लेखराम कृत महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र, पृ० ३५५

८- १८५७ के स्वातन्त्र्य समर में जिन प्रजाजनों ने इस युद्ध में भाग लिया था, वे पूर्व शिक्षित नहीं होने से ही सफलता प्राप्त नहीं कर सके थे।

दुर्ग वा शत्रु की सेना में प्रविष्ट होकर युद्ध करना हो तब 'सूचीव्यूह' अथवा 'वज्रव्यूह'- जैसे दुधारा खड्ग दोनों ओर काट करता है, वैसे युद्ध करते जायें और प्रविष्ट भी होते चलें। वैसे अनेक प्रकार के व्यूह अर्थात् सेना को बनाकर लड़ावें। जो सामने शतघ्नी = तोप वा भुशण्डी = बन्दूक छूट रही हो, तो 'सर्पव्यूह' अर्थात् सर्प के समान सोते-सोते चले जाएँ। जब तोपों के पास पहुँचे, तब उनको मार वा पकड़ तोपों का मुख शत्रु की ओर फेर उन्हीं तोपों से वा बन्दूक आदि से उन शत्रुओं को मारें। अथवा वृद्ध पुरुषों को तोपों के मुख के सामने घोड़ों पर सवार करा दौड़ावें और मारें। बीच में अच्छे-अच्छे सवार रहें। एक बार धावा कर शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न कर पकड़ ले अथवा भगा दें। व्यूह के बिना लड़ाई न करें न करावें।' और 'राजपुरुषों का युद्ध समय में भी चौका लगाकर रसोई बनाके खाना अवश्य पराजय का हेतु है किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना और दूसरे हाथ से शत्रुओं को घोड़े, हाथी, रथ पर चढ़ वा पैदल होके मारते जाना, अपना विजय करना ही आचार और पराजित होना अनाचार है। इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते सब स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर[९] हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं और इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले तो पकाकर खावें। परन्तु वैसा न होने पर जानो सब आर्यावर्त देश भर में चौका लगाके सर्वथा नष्ट कर दिया'- ऐसा दशमें समुल्लास में लिखा और बताया कि 'विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना व बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषणादि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पञ्च बन बैठता है[१०]।' कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराए का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के

९- यह विवरण भी १८५७ के युद्ध के अनुभव पर आधारित है।

१०- यह सङ्केत भी १८५७ में विद्यमान परिस्थितियों की ओर ही है।

साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है ।' दयानन्द के ये शब्द १ नवम्बर, १८५८ को महारानी विक्टोरिया द्वारा इलाहाबाद में की गई क्षमादान की इस घोषणा की प्रतिक्रिया स्वरूप हैं कि 'Firmly relying overselves on the truth of Christianity and acknowledging with gratitude the solace of religion, we disclaim alike the right and the desire to impose our convictions on any of our subjects. We declare it to be our royal will and pleasure that none be any wise favoured, none molested or disqualified by reason of their religious faith and observance, but that all shall alike enjoy the equal and impartial protection of the law, and we do strictly charge and enjoin all those who may be in authority under us that they abstain from all interfrence with the religious belief or worship of any of our subjects on pain of our highestt displeasure'.

इस स्वातन्त्र्य युद्ध में असफलता के पश्चात् दयानन्द ने अनुभव किया था कि "बिना वैदिक ज्ञान के विशुद्ध ज्ञान नहीं आ सकता । समाज संस्कार और जातीय जागरण वैदिक भित्ति पर हो ।" - इस सिद्धान्त को देश-हित और मानव हित के लिए दयानन्द ने ग्रहण किया था क्योंकि इस युद्ध का यही प्रतिफल निकला था जैसा कि जी० डब्ल्यू० फारेस्ट ने 'History of the Indian Mutiny' की भूमिका में लिखा है कि *'भारतीय क्रान्ति से इतिहासकारों को अनेक शिक्षाएँ मिल सकती हैं किन्तु उसमें इससे बढ़कर कोई अन्य महत्त्वपूर्ण शिक्षा नहीं है कि भारत में ब्राह्मण और शूद्र, हिन्दू और मुसलमान हमारे (अर्थात् अंग्रेजों के) विरुद्ध संगठित होकर क्रान्ति कर सकते हैं और हमारे अधिराज्य के सम्बन्ध में यह मानना धोखे से खाली नहीं है कि विभिन्न धार्मिक रीति-रिवाजों का परिपालन करने वाली जातियों से जब तक यह देश परिपूर्ण है, तब तक हमारा यह राज्य शान्तिपूर्ण और स्थिर बना रहेगा, क्योंकि ये लोग एक दूसरे के रहन-सहन, रीति-रिवाजों और व्यवहारों को भली-भाँति समझते ही नहीं, उनके प्रति आदर भावना रखकर उनमें सहयोग भी प्रदान करते हैं । १८५७ की इस क्रान्ति ने हमें यह स्मरण करा दिया है*

११- 'अपनी जन्म चरित्र' पृष्ठ ३०४

कि हमारा अधिपत्य एक पतली परत पर आधारित है और ***समाज सुधार तथा धार्मिक क्रान्ति के विस्फोटों से यह परत किसी भी समय नष्ट हो सकती है ।'***

दयानन्द का उत्तरवर्ती सारा जीवन इसी निष्कर्ष को कार्यरूप में परिणत करने वाला है । फलत: उनके कार्यों से जिस समाज-सुधार की नींव रखी गई और जो धार्मिक क्रान्ति हुई, उसी के फलस्वरूप देश आगे चलकर ९० वर्षों के बाद १५ अगस्त, १९४७ को स्वतन्त्र हो सका ।

इस पर कुछ लोग पूछ सकते हैं कि क्या दयानन्द का सम्बन्ध नाना साहब इत्यादि १८५७ के प्रमुख क्रान्तिकारियों से रहा था, तो हमारा उत्तर होगा कि अवश्य, क्योंकि ऐसा न केवल उनकी **'अज्ञात जीवनी'** ही बताती है अपितु उनके जीवन चरित्रों में भी उल्लेख आता है कि *'(मुम्बई में) किसी-किसी द्वेष परायण दुष्ट ने सरकार को दयानन्द के विरुद्ध करने के लिए यहाँ तक कहा कि वह सिपाही-विद्रोह में भाग लेने वाले नाना साहब का भेजा हुआ दूत है*[१२] *।'* ऐसा जिस व्यक्ति ने कहा वह दयानन्द के नाना साहब के साथ के सम्बन्धों एवं सम्पर्कों के विषय में जानकारी रखता था । क्योंकि जब दयानन्द कुम्भ के मेले में १८५५ के पूर्वार्द्ध में हरिद्वार में थे तो वहाँ उनका नाना साहब पेशवा, बाला साहब, अजीमुल्ला खाँ, तात्याटोपे एवं कुँवर सिंह तथा लक्ष्मीबाई से सम्पर्क हुआ था और तब दयानन्द ने कुम्भ मेले में पधारे अनेक साधु संन्यासियों से मिलकर उन्हें इस युद्ध में सक्रिय होकर भाग लेने की प्रेरणा दी थी और उन्हें कहा था कि *'उत्तर भारत में मेरठ की ओर, पूर्व भारत में बैरकपुर की ओर और दक्षिण भाारत में बेल्लोर की ओर अवश्य जाना चाहिए । आप लोग केवल दिल्ली के योगमाया मन्दिर के पुरोहित त्रिशूल बाबा से सम्पर्क रखिएगा । वहाँ से नियमित समाचार मिलेगा और आप लोगों के समाचार भी हमको मिलने चाहिए*[१३]*।'* सो दयानन्द का उनसे समाचार प्राप्त करने का यह क्रम १८५७ की क्रान्ति की विफलता के बाद भी जारी रहा । इसीलिए उनके जीवन-चरित्रों में यह उल्लेख आता है कि *'गंगातट पर*

१२- महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र (भाग-१, पृ० ३२२)

१३- **'अपना जन्मचरित्र'** (पृ० २३२)

भ्रमण का कारण स्वामी जी यह बताते थे कि गंगा का जलवायु विशुद्ध और उपकारी है । वहाँ साधु सन्तों का समागम और देश की स्थिति का परिज्ञान होता है[१४]। 'प्रतीत होता है कि गंगातट पर विचरण करते हुए दयानन्द उन्हीं साधुओं से मिलकर देश का समाचार लेते थे जिनका उनसे हरिद्वार के इस कुम्भ मेले में सम्पर्क और परिचय हुआ था । इन्हीं परिचितों में से किसी ने मुम्बई में दयानन्द के नाना साहब से सम्बन्धित होने की बात फैलाई थी, जो यथार्थ ही थी ।

कुल मिलाकर दयानन्द का १८५५-६० का जीवनचरित्र कुछ ऐसा बनता है कि वे आबू से फाल्गुन-चैत्र से सं० १९११ वि० में मारवाड़, पुष्कर, अजमेर, जयपुर, अलवर, दिल्ली, मेरठ और गढ़मुक्तेश्वर होते हुए हरिद्वार के कुम्भ मेले में पहुँचे । मार्ग में उन्हें १८५७ की प्रस्तावित क्रान्ति की तैयारियों के विषय में अनेक अनुभव हुए । हरिद्वार के कुम्भ में पहुँचकर वे चण्डी के पहाड़ पर ठहरे जहाँ उनकी नाना साहब, बाला साहब, अजीमुल्ला खाँ, तात्याटोपे, कुँवरसिंह और लक्ष्मीबाई से भेंट हुई । इस अवसर पर मेले में उपस्थित शतशः साधु संन्यासियों और विभिन्न धर्म गुरुओं से दयानन्द ने भेंट की और उन्हें इस क्रान्ति में सहयोग देने के लिए प्रेरित किया, परन्तु निराशा ही पल्ले पड़ी । इसके साथ ही वे चण्डी पर योगाभ्यास भी करते रहे । सर्वखाप पंचायत सोरम जिला मुजफ्फर नगर से श्री निहालसिंह आर्य (दिल्ली) को प्राप्त ११ पत्रों से यह तथ्य उजागर हुआ है कि सन् १८५५ के प्रारम्भ में (सम्भवतः मार्च, १८५५ के पूर्वार्द्ध में) एक सभा हरिद्वार में हुई थी जिसमें बहादुरशाह जफर का पुत्र फिरोजशाह, रावसाहब मराठा, बाला साहब मराठा, रंगूबापू, अजीमुल्ला खाँ और रमजान बेग उपस्थित थे । कुल उपस्थिति १५०० के लगभग थी । इस सभा में ब्रिटिश सरकार के हिन्दुस्तानी सैनिकों एवं प्रजा में विद्रोह की भावना का प्रसार करने के लिए कमल-फूल और चपातियों के वितरण की योजना स्वामी ओमानन्द ने स्वामी पूर्णानन्द और अन्य साधुओं से मिलकर जिनमें स्वामी दयानन्द भी सम्मिलित थे,

---

१४- महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र (भाग-१, पृष्ठ ३१६)

तैयार की थी[१५]।' इस प्रकार दयानन्द ने जो योजना अजीमुल्ला खाँ को बताई थी, वह स्वीकार कर ली गई।

मेले की समाप्ति पर दयानन्द अप्रैल (उत्तरार्द्ध) में ऋषिकेश चले गए और वहाँ कुछ दिन ठहरकर टिहरी होकर उत्तराखण्ड के श्रीनगर पहुँच गए। पुनः वहाँ से वे अमरनाथ, काश्मीर के श्रीनगर, गंदरबल, कंगन, मटयन, कार्गिल, लेह, हिमिस गोम्पा सितम्बर माह के पूर्वार्द्ध तक पहुँच गए। वहाँ से वापस लौटकर पुनः हरिद्वार आए जहाँ ११ अक्टूबर, १८५५ को एक सभा हुई जिसमें स्वामी पूर्णानन्द, स्वामी विरजानन्द एवं स्वामी दयानन्द समेत ५६५ साधु एवं फकीर उपस्थित हुए थे। इस सभा में स्वामी पूर्णानन्द और साई फखरुद्दीन ने भाषण दिये थे और देशोत्थान की प्रेरणा दी थी[१६]।

यहाँ से दयानन्द सम्भवतः बिठूर तक गए और अनेक बार नाना साहब से मिले। फिर वापस आकर चैत्र (कृष्णपक्ष) सं० १९१२ से कार्तिक १९१३ वि० पर्यन्त उत्तराखण्ड के विभिन्न स्थानों में घूमते रहे जिनमें श्रीनगर, शिवपुरी, केदारनाथ, ओखीमठ, जोशीमठ, बद्रीनारायण, अलखनन्दा स्रोत, पुनः बद्रीनारायण एवं रामपुर सम्मिलित हैं। शिवपुरी में वर्षाकालीन ४ मासी पड़ाव के दौरान वे सम्भवतः मथुरा भी आए जहाँ भाद्रपद माह में कृष्ण जन्माष्टमी पर्व पर (२३ अगस्त, १८५६ को) आयोजित उस सभा में भी सम्मिलित हुए जिसमें नाना साहब, अजीमुल्ला खाँ, रंगूबाबू और बहादुरशाह जफर का एक शाहजादा उपस्थित हुआ था और जिसे स्वामी विरजानन्द ने सम्बोधित किया था[१७]।

उत्तराखण्ड की यात्रा करके दयानन्द ऋषिकेश, देहरादून, यमुनोत्तरी, उत्तरकाशी, गंगोत्तरी, केदारनाथ, वसुधारा, सतोपन्थ, अलकापुरी शिखर, मानसोद्भव तीर्थ होकर मानसरोवर और कैलास गए जहाँ से ल्हासा होकर

१५- स्व० डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार तथा हरिदत्त वेदालंकार कृत 'आर्यसमाज का इतिहास', प्रथम भाग, पृष्ठ ६९६

१६- स्व० डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार तथा हरिदत्त वेदालंकारकृत 'आर्यसमाज का इतिहास', प्रथम भाग, पृ ६९७

१७- वही पृष्ठ ६९४-९५

दार्जिलिंग, नाटौर और बैरकपुर आए जहाँ मंगलपाण्डे उनसे आकर मिला। यह फरवरी, १८५७ की बात है। बैरकपुर से दयानन्द कलकत्ता आकर गंगासागर, नवद्वीप, कामरूप तथा परशुराम कुण्ड तक गए और पुनः बिहार होते हुए नेपाल में काठमाण्डू, पशुपतिनाथ एवं मुक्तिनाथ तक गए। फिर वापस मुंगेर होते हुए कलकत्ता लौटे और वहाँ से पुरी तक गए। इस प्रकार से जून, १८५७ बीत गया।

पुरी में ही दयानन्द को उत्तर भारत में क्रान्ति आरम्भ हो जाने की जानकारी मिली, जिससे वे दिल्ली आ गए और उसके आसपास सक्रिय रहे। इस क्षेत्र में वे अपने जैसे एक बलिष्ठ ब्रह्मचारी के साथ घोड़े पर सवार के रूप में देखे गए। दिल्ली की पराजय के उपरान्त वे गंगोत्री की ओर चले गए और वहाँ से चलकर काशीपुर, द्रोणसागर, मुरादाबाद, सम्भल, गढ़मुक्तेश्वर, फर्रुखाबाद, श्रङ्गीरामपुर होकर वे जब कानपुर पहुँचे तब संवत् १९१४ समाप्त हो गया।

फिर वे कानपुर और प्रयाग में मध्यवर्ती अनेक स्थानों पर अगले पाँच महीनों तक घूमते रहे। इस बीच इस क्षेत्र में अनेक घटनाएँ घटीं जिनमें से नाना साहब आदि का बरेली जाना, कुँअर सिंह का आजमगढ़ पर अधिकार होना, तात्याटोपे का बेतवा तट पर अंग्रेजों से पराजित होना, अंग्रेजों द्वारा झाँसी पर अधिकार कर लेना, २४ मई को काल्पी में रानी लक्ष्मीबाई, बान्दा के नवाब और नाना साहब के भतीजे राव साहब की ह्यूरोज से पराजय, ग्वालियर पर क्रान्तिकारियों का अधिकार होना, पुनः लश्कर की पहाड़ियों में १७ जून को लक्ष्मीबाई का वीरगति प्राप्त करना और जुलाई, अगस्त, सितम्बर में कैम्पबेल, होप ग्राण्ट और बालपोल द्वारा प्रमुख विद्रोहियों को ढूँढ़-ढूँढ़कर मार डालना इत्यादि सम्मिलित हैं। इसके बाद दयानन्द इस युद्ध में क्रान्तिकारियों की पराजय होती देख दक्षिण भारत की ओर चल पड़े और मिरजापुर, काशी, चण्डालगढ़ होकर नर्मदा स्रोत की ओर चलते चले गये। १८५९ के प्रारम्भ में वे नासिक पहुँचे। यह वह समय था जब तात्याटोपे नर्मदा नदी को पार कर मुलताई होते हुए नासिक के उत्तर में छोटा उदयपुर की ओर बढ़ रहा था।

नासिक से दयानन्द श्रृंगेरी, बंगलौर, मैसूर, कांची, त्रिचिनापल्ली, मदुरा,

रामेश्वर, धनुष्कोटि होकर लंका तक गए और वहाँ तलैमन्नार, कोलम्बो, कांडी, आदमश्रंग, अनुराधापुर आदि स्थानों पर घूम फिर कर पुन: धनुष्कोटि आ गए और फिर १८६० के प्रारम्भ में कन्याकुमारी पहुँचे जहाँ नाना साहब, तात्याटोपे और दुर्जयराव ने आकर उनसे भेंट की और नाना साहब ने उनसे संन्यास लेकर दिव्यानन्द स्वामी नाम ग्रहण किया । यहाँ से नाना साहब आदि सौराष्ट्र में अपना शेष जीवन बिताने के लिए चले गए और दयानन्द भी (सम्भवत: द्वारिका होकर) मथुरा में गुरु विरजानन्द जी की शरण में १४ नवम्बर, १८६० को पहुँचे । इसके आगे का उनका जीवन-चरित्र सर्वज्ञात है ही [१८] ।

तात्याटोपे को शिवपुरी में १८ अप्रैल, १८५९ को फाँसी नहीं हुई थी, अब यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है । इसी प्रकार नाना साहब की भी नेपाल में मृत्यु नहीं हुई, अपितु वे बहुत वर्षों तक जीवित रहे । इस विषय में पर्याप्त साहित्य लिखा जा चुका है । स्वयं अंग्रेजों ने भी ऐसा स्वीकार नहीं किया, यह इसी बात से सिद्ध है कि सन् १८६२ के जुलाई महीने में नाना साहब और तात्याटोपे समेत उनके साथियों को पकड़ने के लिए अंग्रेजों ने एक इश्तिहार जारी किया था । यदि नाना साहब और तात्याटोपे जुलाई १८६२ में जीवित न होते तो इनके नाम इस इश्तिहार में क्यों आते?

इस प्रकार हम पाते हैं कि स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी द्वारा 'सार्वदेशिक' साप्ताहिक पत्र में छपी ऋषि दयानन्द की 'अज्ञात जीवनी' के १९७२ में प्रकाशित पुस्तककार संस्करण 'योगी का आत्म-चरित्र' में वर्णित ऋषि दयानन्द की यात्राएँ काल्पनिक न होकर वास्तविक ही हैं जिनको भले ही कतिपय वर्तमान विद्वान् अपने पूर्वाग्रहों के कारण स्वीकार न करें, परन्तु आर्य जाति की भावी सन्तति उन्हें अवश्य स्वीकार करेगी और इसके लिए वह पं० दीनबन्धु वेदशास्त्री एवं स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी के प्रति कृतज्ञ होगी । हमने और स्वामी जी के यशस्वी पुत्र डॉ० वेदव्रत 'आलोक' ने ऋषि दयानन्द की इस प्रकार उपलब्ध तीनों ही आत्मकथाओं का 'अपना

१८- ऋषि दयानन्द के प्रारम्भिक ४० वर्षों (१८२४-६४ ई०) के घटना और यात्रा क्रम के लिए कृपया परिशिष्ट देखें।

जन्मचरित्र' के नाम से १९८७ में एक संयुक्त संस्करण प्रकाशित कर उनके ऋण से उऋण होने का एक तुच्छ प्रयास किया है ।

स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती योगी को 'अज्ञात-जीवनी' के जिन अंशों ने अपनी ओर आकृष्ट किया वे उसमें वर्णित योग विषयक कतिपय ऐसे समाधान थे जिनको वे अन्यत्र कहीं नहीं पा सके थे । परन्तु कतिपय आर्य विद्वान् 'योगी का आत्म-चरित्र' में वर्णित योग विषयक विवरणों को ऋषि दयानन्द के आर्य सामाजिक क्षेत्र में प्रचलित सिद्धान्तों के विपरीत मानते हैं । ऐसे विद्वानों की सन्तुष्टि के लिए हम ऋषि दयानन्द के 'थियोसोफिस्ट' पत्रिका के दिसम्बर, १८८० के अङ्क में कर्नल एच०एस० आलकाट द्वारा उनसे अगस्त, १८८० में मेरठ में लिए गए एक साक्षात्कार के रूप में प्रकाशित विचारों को आगे उद्धृत कर रहे हैं । इस साक्षात्कार के समय ३०-४० व्यक्ति उपस्थित थे जिनमें से तीन व्यक्तियों ने ऋषि दयानन्द के इन कथनों की लिखित रूप से पुष्टि की थी तथा ऋषि दयानन्द ने भी अपने इन कथनों का 'थियोसोफिस्ट' पत्रिका में प्रकाशनोपरान्त कभी खण्डन नहीं किया-

"In reply to the request that without suggestion he would state what specific powers the proficient in Yoga enjoys, he said that the true Yogi can do that which the vulgar call miracles. It is needless to make a list of his powers, for practically his power is limited only by his desire and the strength of his will. Among other things he can exchange thoughts with his brother Yogis at any distance even though they be as far apart as one pole from the other, and have no visible, external means of communication such as the telegraph or post. He can read the thoughts of others. He can pass (in his inner self) from one place to another and so be independent of the ordinary means of conveyance and that at a speed incalculably greater than that of the reilway engine. He can walk upon the water or in the air above the surface of the ground. He can pass his own soul (*atma*) from his own body into that of another person, either for a short time or for years as he chooses. He can prolong the natural term of the life of his own body by withdrawing his *atma* from it during the hours of sleep, and so, by reducing the activity of the vital processes to a

minimum, avoid the greater part of the natural wear and tear. The time so accupied is so much time to the added to the natural sum of the physical existence of the bodily machine.

अर्थात् एक अन्य अनुरोध के उत्तर में कि क्या बिना व्यंजना के वे यह बताएँगे कि प्रवीण योगी में कौन-कौन सी शक्तियाँ निहित रहती हैं, उन्होंने कहा कि एक प्रवीण-योगी वह कुछ कर सकता है, जिसे जनसाधारण चमत्कार समझता है। यहाँ उसकी शक्तियों का विवरण देना अनावश्यक है क्योंकि उसकी यह शक्तियाँ तो उसकी चाहना और इच्छाशक्ति पर ही निर्भर करती हैं। अन्य बातों के अलावा वह अपने दूरस्थ भ्रातृ-योगी से विचारों का आदान-प्रदान भी कर सकता है फिर चाहे वे परस्पर इतनी दूरी पर हों जितने पृथिवी के दो ध्रुव और चाहे उनके पास दूरसंचार के बाह्य भौतिक साधन जैसे डाक-तार न हों।[१९] वह दूसरे के विचारों को जान सकता है। वह अपने आपको एक स्थान से दूसरे स्थान पर बिना यातायात के साधनों के रेलवे इंजिन की गति से भी अधिक तेजी से ले जा सकता है। वह जल या हवा में भूतल के ऊपर चल सकता है। वह अपनी आत्मा को अपने शरीर से निकालकर दूसरे के शरीर में कुछ काल अथवा इच्छानुसार अनेक वर्षों तक के लिए प्रविष्ट कर सकता है। वह अपने शरीर के जीवन की प्राकृतिक अवधि को, अपनी आत्मा को शयनकाल में अपने शरीर से निकालकर जिससे उसकी जैविक गतिविधियाँ न्यूनतम होकर प्राकृतिक छीजन एवं खोंच को अधिकांशतया बचाकर, बढ़ा सकता है। इस प्रकार आत्मा को शरीर से पृथक् रखने का काल उसके शरीर के जीवनकाल में जुड़ जाता है।

Q. Can a Yogi prolong his life to the following extent; say the natural life of his own body is seventy years, can he, just before the death of that body, enter the body of a child of six years, live in that another term of seventy years, remove from that to another, and live in it a third seventy?

प्रश्न-क्या योगी अपने जीवन को निम्न सीमा तक भी बढ़ा सकता है? जैसे यदि उसके प्राकृतिक जीवन की अवधि ७० वर्ष हो और वह अपनी मृत्यु

१९- स्वामी जी के जीवन-चरित में हमें ऐसे प्रसङ्ग पढ़ने को मिलते हैं।

से ठीक पूर्व एक छः वर्षीय बालक के शरीर में प्रविष्ट होकर उसके भी ७० वर्षीय जीवनकाल में जीवित रहकर, पश्चात् इसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति करते हुये तीसरे ७० वर्षीय जीवनकाल में भी जीवित रह सकता है?

A. He can, and can thus prolong his stay on earth to about the term of four hundred years.[20]

उत्तर–हाँ, ऐसा वह कर सकता है और इस प्रकार वह इस पृथ्वी पर ४०० वर्षों तक जीवित रह सकता है।[२०]

Q. How many kinds of Yoga practice are there?

प्रश्न–योगानुशीलन की कितनी विधाएँ हैं?

A. Two-*Hatha Yoga and Raja Yoga*. Under the former the student undergoes physical trials and hardships for the purpose of subjecting the body to the will. For example, the swinging of one's body from a tree, head downwards, at a little distance from five burning fires, &c. In *Raja Yoga* nothing of the kind is required. It is a system of mental training by which the mind is made the servant of the will. The one-*Hatha Yoga*-gives physical results; the other-*Raja Yoga*-spiritual powers. He who would become perfect in *Raja* must have passed through the traning in *Hatha*.

उत्तर–दो, हठयोग एवं राजयोग। इनमें से पहली के अन्तर्गत प्रशिक्षु को शारीरिक कठोर साधनाएँ करनी पड़ती हैं, ताकि वह अपने शरीर को स्वनियन्त्रण में रख सके। उदाहरणार्थ एक पेड़ पर उल्टे लटककर पंचाग्नि तपना इत्यादि। राजयोग में ऐसा कुछ नहीं होता। इसमें उसे मानसिक साधना करनी होती है जिससे उसका मन उसकी इच्छाओं के वशीभूत हो सके। इनमें से प्रथम हठयोग भौतिक परिणाम देता है, जबकि द्वितीय राजयोग आत्मिक शक्तियों का संवर्धन करता है। वह जो राजयोग में नैपुण्य प्राप्त करता है, उसने हठयोग कर लिया होता है।

२०– 'मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण, चतुर्गुण आयु कर सकता है, अर्थात् (४००) चार सौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है।''–ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका (वेद संज्ञा विचार विषय)

Q. But are there not persons who possess the *Siddhis,* or powers, of the *Raja Yoga* without ever having passed through the terrible ordeal of the *Hatha?* I certainly have met three such in India, and they themselves told me they had never submitted their bodies to torture.

प्रश्न–परन्तु क्या ऐसे व्यक्ति नहीं हैं, जिन्होंने राजयोग की सिद्धियाँ अथवा शक्तियाँ बिना हठयोग की त्रासदायी साधना किए हुए ही प्राप्त कर ली हैं? मैं भारत में ऐसे तीन व्यक्तियों से मिला हूँ जिन्होंने स्वयं ही बताया है कि उन्होंने कभी भी अपने शरीर को (हठयोग की) यन्त्रणाएँ नहीं दीं।

A. Then they practised *Hatha* in their previous birth.

उत्तर–तब उन्होंने हठयोग का अभ्यास अपने पूर्व जन्म में किया है।

Q. Explain, if you please, how we may distinguish between real and false phenomena when produced by one supposed to be a Yogi?

प्रश्न–कृपया बताइए कि हम कथित रूप से एक योगी द्वारा प्रदर्शित प्रतीयमान दृश्यों की वास्तविकता अथवा अवास्तविकता में किस प्रकार भेद करें?

A. Phenomena and phenomenal appearances are of three kinds : the lowest are produced by sleight of hand or dexterity; the second by chemical and mechanical aids or appliances; the third, and highest, by the accult powers of man. Whenever anything of a startling nature is exhibited by either of the first two means, and it is falsely represented to have been of an un-natural of super-natural, or miraculous character, that is properly called a *Tamasha,* or dishonest deception. But if the true and correct explanation of such surprising effect is given then it should be classed as a simple exhibition of scientific, or technical skill, and is to be called *Vyavhar-Vidya.* Effects, produced by the sole exercise of the trained human will, without apparatus or mechanical aids, are true Yoga.

उत्तर–प्रतीयमान दृश्य तीन प्रकार के होते हैं जिनमें से निम्नतम हाथ की

सफाई से प्रदर्शित किए जाते हैं। दूसरे रसायनों और यान्त्रिक विधियों के उपयोग द्वारा तथा तीसरे उच्चतम स्तर के मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। जब भी कोई आश्चर्यजनक प्रकृति का प्रदर्शन प्रथम दो तरहों से किया जाता है और जिसे झूठमूठ में अप्राकृतिक, अलौकिक या चमत्कारी बताया जाता है, वह वस्तुत: एक तमाशा या कपट छल होता है। परन्तु यदि इन आश्चर्यजनक प्रभावों का सत्याधारित वास्तविक स्पष्टीकरण दिया जाता है तो इसे मात्र एक वैज्ञानिक अथवा तकनीकी प्रदर्शन के रूप में वर्गीकृत किया जाना चाहिए और इसे व्यवहार-विद्या कहना चाहिए। बिना उपकरणों और यान्त्रिक साधनों के प्रशिक्षित मानवीय इच्छाशक्ति से उत्पन्न किए गए प्रभाव ही वस्तुत: योग-जन्य होते हैं।

Q. You do not believe, then, that the Yogi acts contrary to Natural Laws?

प्रश्न-तो आप नहीं मानते कि योगी प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल कार्य कर सकता है?

A. Never; nothing happens contrary to the laws of Nature. By *Hatha Yoga* one can accomplish a certain range of minor phenomena, as, for instance, *to draw all his vatality into a single finger* [21] or when in *Dhyan* (a state of mental quiescence) to know another's thoughts. By *Raja Yoga* he becomes a *Siddha;* he can do whatever he wills and know whatever he desires to know, even languages which he has never studied. But all these are in strict harmony with Natural Laws.

उत्तर-कभी नहीं, प्रकृति के नियमों के विपरीत कुछ भी नहीं होता है। हठयोग के द्वारा एक व्यक्ति एक सीमित दायरे में ही कुछ कर सकता है, यथा-*वह अपनी सम्पूर्ण जीवनी-शक्ति को अपनी एक उँगली*[२१] *में केन्द्रीभूत*

२१- "कर्नल और मैडम सायंकाल को महाराज से बाबू छेदीलाल के बंगले पर मिला करते और उनसे वार्त्तालाप किया करते थे। इस वार्तालाप का अंश **'थियोसोफिस्ट'** समाचार पत्र में छप चुका है, परन्तु नीचे लिखी बात उसमें नहीं छपी।

एक दिन कर्नल ने स्वामी जी से कहा कि उन्हें और मैडम को इस बात में

कर *सकता* है और ध्यानावस्था में दूसरे के विचार जान सकता है। राजयोग के द्वारा वह सिद्ध बन जाता है, जिससे वह जो कुछ करना चाहता है, कर सकता है, जो जानना चाहता है, जान सकता है; यहाँ तक कि उन भाषाओं तक को समझ सकता है, जो उसने कभी नहीं पढ़ी हों। परन्तु यह सभी कुछ प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही होता है।

Q. I have occasionally seen inanimate articles duplicated before may eyes, such as letters, coins, pencils, articles of jewellary; how is this to be accounted for ?

प्रश्न–मैंने यदा-कदा निर्जीव वस्तुओं को अपनी आँखों के सामने द्विगुणित करते देखा है, यथा-पत्रों, सिक्कों, पेन्सिलों एवं आभूषणों को। इसे किस प्रकार समझा जाय?

A. In the atmosphere are the particles of every visible thing in a highly diffused state. The Yogi knowing how to concentrate these, does so by the exercise of his will and forms them into any shape of which he can picture of himself the model".

उत्तर–वायुमण्डल में प्रत्येक दिखाई पड़ने वाली वस्तु के कण एक अत्यन्त असंगठित अवस्था में रहते हैं। योगी उन्हें केन्द्रीभूत करने की विद्या को जानकर अपनी इच्छाशक्ति से उन्हें एकत्र कर वह इच्छित स्वरूप प्रदान कर देता है, जो उसने कल्पित किया होता है।

शंका है कि स्वामी शंकराचार्य ने अपने आत्मा को एक राजा के शरीर में, जो उसी दिन मरा था, प्रविष्टि कर दिया था। स्वामी जी ने कहा कि यह विचित्र बात है कि मैडम के समान योगप्रवीण व्यक्ति को इस विषय में सन्देह हो। उन्होंने फिर कहा कि मैं प्रथम कोटि का योगी नहीं हूँ, केवल मध्यम कोटि का हूँ, परन्तु **मैं अपनी चेतन शक्ति को शरीर के किसी भाग में केन्द्रित कर सकता हूँ** अर्थात् उस भाग को छोड़कर मेरे शरीर के अन्य सब भाग मृतवत् हो जाएँगे। यदि आप यह दृश्य देखना चाहें तो मैं आपको दिखा सकता हूँ। जबकि मैं एक मध्यम कोटि का योगी इतना कर सकता हूँ तो यह सम्भव है कि एक उच्च कोटि का योगी इससे एक पद आगे बढ़कर अपने आत्मा को दूसरे शरीर में प्रविष्ट कर सके।''

–महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र (भाग-२, पृ० २४६-२४७)

जहाँ तक उक्त सिद्धियों का प्रश्न है- डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार एम०ए० ने इन्हें ऋग्वेद के १०वें मण्डल के १३६वें सूक्त के सात मन्त्रों के आधार पर साप्ताहिक **'सार्वदेशिक'** के शिवरात्रि अङ्क (५ मार्च, १९८९) में प्रकाशित अपने एक लेख द्वारा वेदानुकूल सिद्ध किया है । वे सात मन्त्र ये हैं :-

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी ।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ।।१।।
मुनयो वातरशना: पिशङ्गा वसते मला ।
वातस्यानु घ्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ।।२।।
उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम् ।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ ।।३।।
अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत् ।
मुनिर्देवस्यदेवस्य सौकृत्याय सखा हित: ।।४।।
वातस्याश्वो वायो: सखाथो देवेषितो मुनि: ।
उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापर: ।।५।।
अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन् ।
केशी केतस्य विद्वान्त्सखा स्वादुर्मदिन्तम: ।।६।।
वायुरस्मा उपामन्थत्पिनष्टि स्मा कुनंनमा ।
केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणापिबहत्सह ।।७।।

ऋषि दयानन्द के जीवन-चरित्रों के अध्येतागण जानते हैं कि ऋषि दयानन्द के आयित्व में भी ऐसी अनेक सिद्धियाँ आ गई थीं । •

ऋषि दयानन्द के प्रारम्भिक ४० वर्षों का घटना और यात्रा क्रम

क्रम	घटना एवं यात्रा	घटना एवं यात्रा का समय
१-	जन्म	टंकारा में भाद्रपद शुक्ल ९, गुरुवार सं० १८८१ वि० (२ सितम्बर, १८२४ ई०)
२-	नामकरण संस्कार	पौष कृष्ण ५-६, संवत् १८८१ वि० शनिवार (११ दिसम्बर १८२४ ई०)
३-	प्रथम जन्मोत्सव	भाद्रपद शुक्ल ९, मंगलवार सं० १८८२ वि० (२० सितम्बर १८२५ ई०)
४-	विद्यारम्भ-संस्कार	सं० १८८६ वि० (सन् १८२९ ई०)
५-	यज्ञोपवीत-संस्कार	सं० १८८९ वि० (सन् १८३२ ई०)
६-	शिवरात्रि का व्रत	फाल्गुन कृष्ण १३-१४, संवत् १८९४ वि०, गुरुवार (२२ फरवरी १८३८ ई०)
७-	बहन की मृत्यु	संवत् १८९९ वि० (सन् १८४२ ई०) की ग्रीष्म ऋतु में
८-	चाचा की मृत्यु	संवत् १९०० वि० (सन् १८४३ ई०) की ग्रीष्म ऋतु में
९-	काशी भेजने का निवेदन और जमींदारी के गाँव में अध्ययनार्थ जाना	संवत् १९०१ वि० (सन् १८४४ ई०)
१०-	विवाह का अन्तिम प्रयत्न	संवत् १९०२ वि० (सन् १८४५ ई०)
११-	गृह त्याग	आश्विन कृष्ण पक्ष संवत् १९०२ वि० (सितम्बर १८४५ का उत्तरार्द्ध)
१२-	सायले शहर में योग-साधना	आश्विन-कार्तिक संवत् १९०२ वि०

	एवं ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य नाम ग्रहण	(अक्तूबर १८४५ ई०)
१३-	कोटकांगड़ में	कार्तिक कृष्ण पक्ष संवत् १९०२ वि० (अक्टूबर १८४५ ई० का उत्तरार्द्ध)
१४-	सिद्धपुर के मेले में पिता द्वारा पकड़ा जाना एवं पुनः मुक्ति	कार्तिक शुक्ल पक्ष संवत् १९०२ वि० (नवम्बर १८४५ ई० का पूर्वार्द्ध)
१५-	अहमदाबाद में	मार्गशीर्ष संवत् १९०२ वि० (मध्य नवम्बर से मध्य दिसम्बर १८४५ ई० तक)
१६-	बड़ौदा में	पौष (कृष्ण पक्ष) संवत् १९०२ वि० से पौष (कृष्ण पक्ष) संवत् १९०३ वि० (दिसम्बर १८४५ के अन्तिम सप्ताह से दिसम्बर १८४६ के तृतीय सप्ताह पर्यन्त)
१७-	बड़ौदा से काशी	पौष (शुक्ल पक्ष) संवत् १९०३ से माघ (शुक्ल पक्ष) संवत् १९०३ वि० (दिसम्बर १८४६ के अन्तिम सप्ताह से जनवरी १८४७ के अन्तिम सप्ताह में)
१८-	काशी में विद्याध्ययन	माघ (शुक्ल पक्ष) संवत् १९०३ से भाद्रपद संवत् १९०४ वि० पर्यन्त (फरवरी से सितम्बर १८४७ ई०)
१९-	काशी से बिलासपुर, अमरकंटक, मण्डला, जबलपुर ब्रह्माण्डघाट, होशंगाबाद, ओंकारेश्वर, मण्डलेश्वर, महेश्वर, धर्मपुरी, कालभैरव की गुफा में बलिदान का प्रयत्न	भाद्रपद संवत् १९०४ वि० से फाल्गुण संवत् १९०४ वि० के मध्य तक (सितम्बर १८४७ ई० से मार्च १८४८ ई० के प्रारम्भ तक)

	(माघ कृष्ण ३०, संवत् १९०४ वि०, ५ फरवरी १८४८ ई०) धर्मपुरी, मांडवगढ़, हिरणफाल तीर्थ, शूलपाणि तीर्थ, राजघाट (बड़वानी), चाणोद	
२०-	चाणोद में (संन्यास ग्रहण)	फाल्गुण संवत् १९०४ से आषाढ़ (कृष्ण पक्ष) संवत् १९०५ वि० (मार्च से जून १८४८ तक)। ज्येष्ठ (शुक्ल पक्ष) संवत् १९०५ वि० (जून १८४८ के पूर्वार्द्ध) में संन्यास ग्रहण कर स्वामी दयानन्द सरस्वती नाम ग्रहण ।
२१-	व्यासाश्रम में स्वामी योगानन्द से योगाभ्यास की शिक्षा	आषाढ़ (कृष्ण पक्ष) संवत् १९०५ वि० से कार्तिक (शुक्ल पक्ष) संवत् १९०५ वि० (जून १८४८ के उत्तरार्द्ध से नवम्बर १८४८ ई० के पूर्वार्द्ध तक)
२२-	सीनौर में पं० कृष्ण शास्त्री से व्याकरण का अध्ययन	मार्गशीर्ष (कृष्ण पक्ष) से फाल्गुण (कृष्ण पक्ष) संवत् १९०५ वि० (नवम्बर १८४८ के उत्तरार्द्ध से फरवरी १८४९ के उत्तरार्द्ध पर्यन्त)
२३-	पुनः चाणोद एवं अहमदाबाद में ज्वालानन्दपुरी एवं शिवानन्द गिरि से योग-विद्या शिक्षा	फाल्गुण (कृष्ण पक्ष) संवत् १९०५ वि० से फाल्गुण (कृष्ण पक्ष) सं० १९०८ (फरवरी १८४९ से फरवरी १८५२ पर्यन्त)
२४-	अहमदाबाद से आबू पर्वत पर और वहाँ योगाभ्यास	फाल्गुण (कृष्ण पक्ष) सं० १९०८ से फाल्गुण (कृष्ण पक्ष) सं० १९११ वि० पर्यन्त (फरवरी १८५२ से फरवरी १८५५ ई० तक)
२५-	आबू से मारवाड़, पुष्कर, अजमेर, जयपुर, अलवर,	फाल्गुण-चैत्र सं० १९११ वि० (फरवरी-मार्च १८५५ ई०)

	दिल्ली, मेरठ, गढ़मुक्तेश्वर, हरिद्वार	
२६-	हरिद्वार के कुम्भ मेले में (क्रान्तिकारी नेताओं एवं अनेक साधु-सन्तों से भेंट एवं योगाभ्यास)	फाल्गुण-चैत्र से वैशाख (कृष्ण पक्ष) सं० १९११-१२ वि० (फरवरी-मार्च से अप्रैल पूर्वार्द्ध सन् १८५५ ई०)
२७-	हरिद्वार से ऋषिकेश, टिहरी, श्रीनगर (उत्तराखण्ड), श्रीनगर (काश्मीर), अमरनाथ, श्रीनगर, गन्दरवल, कंगन, मटयन, कार्गिल, लेह शहर, हिमिस गोम्पा, श्रीनगर---हरिद्वार---इत्यादि स्थानों पर भ्रमण और ऋषिकेश पहुँच	वैशाख (शुक्ल पक्ष) सं० १९१२ वि० से फाल्गुण सं० १९१२ वि० (अप्रैल (उत्तरार्द्ध) १८५५ से मार्च (पूर्वार्द्ध) १८५६ ई० पर्यन्त)
२८-	उत्तराखण्ड भ्रमण अर्थात् ऋषिकेश, टिहरी, श्रीनगर, शिवपुरी (वर्षाऋतु में यहीं से सम्भवतः मथुरा गमन और वापसी), केदारनाथ, ओखीमठ, जोशीमठ, बद्रीनारायण, अलकनन्दा स्रोत, बद्रीनारायण, रामपुर, ऋषिकेश	चैत्र (कृष्ण पक्ष) से कार्तिक सं० १९१३ वि० पर्यन्त (मार्च (उत्तरार्द्ध) से नवम्बर (पूर्वार्द्ध) सन् १८५६ ई० पर्यन्त)
२९-	**गंगोत्री से गंगासागर** ✦ और पुरी पर्यन्त (अर्थात् ऋषिकेश, देहरादून, यमुनोत्तरी, उत्तरकाशी, गंगोत्तरी, केदारनाथ, बसुधारा, सन्तोपन्थ, अलकापुरी शिखर, मानसोद्भवतीर्थ, मानसरोवर, कैलास, ल्हासा,	मार्गशीर्ष सं० १९१३ वि० से आषाढ़ सं० १९१४ वि० [नवम्बर (उत्तरार्द्ध) १८५६ से जून १८५७ ई० पर्यन्त]

✦ टिप्पणी अगले पृष्ठ पर देखें ।

	दार्जिलिंग, नाटोर, बैरकपुर (में मंगलपाण्डे से भेंट), कलकत्ता, गंगासागर, नवद्वीप, कामरूप, परशुरामकुण्ड, नेपाल, मुंगेर, कलकत्ता, पुरी)	
३०-	सन् १८५७ (संवत् १९१४) की क्रान्ति में भाग लेने पुरी से उत्तर भारत (दिल्ली के निकटवर्ती क्षेत्र में), पुनः गंगोत्री की ओर	श्रावण (कृष्ण पक्ष) से कार्तिक सं० १९१४ वि० पर्यन्त (जुलाई से अक्टूबर १८५७ ई० पर्यन्त)
३१-	**गंगोत्री से रामेश्वर** ✦ और श्रीलंका पर्यन्त [अर्थात् काशीपुर, द्रोणसागर, मुरादाबाद, सम्भल, गढ़मुक्तेश्वर, फर्रुखाबाद, श्रृंगीरामपुर, कानपुर-प्रयाग (के मध्यवर्ती स्थान), मिरजापुर, काशी, चाण्डालगढ़, नर्मदास्रोत की ओर, नासिक, श्रृंगेरी, बंगलौर, मैसूर, कांची, त्रिचिनापल्ली, मदुरा, रामेश्वर, धनुष्कोटि, तलैमन्नार, कोलम्बो, कांडी, आदमश्रृंग, अनुराधापुर, पुनः धनुष्कोटि, कन्याकुमारी (में नाना साहब, तात्याटोपे एवं दुर्जयराव से भेंट एवं नाना साहब की संन्यासाश्रम में दीक्षा)--- हाथरस, मुरसान, मथुरा]	मार्गशीर्ष १९१४ वि० से कार्तिक (कृष्ण पक्ष) १९१७ वि० पर्यन्त (नवम्बर १८५७ से नवम्बर (पूर्वार्द्ध) १८६० ई० पर्यन्त)
३२-	मथुरा आगमन और स्वामी विरजानन्द से मथुरा और आगरा में रहकर ४ वर्ष तक विद्याध्ययन	कार्तिक (शुक्ल पक्ष) सं० १९१७ से आश्विन सं० १९२१ वि० पर्यन्त [नवम्बर (उत्तरार्द्ध) १८६० से सितम्बर-अक्टूबर १८६४ ई० पर्यन्त]।

✦ "मैं एक बार गंगोत्री से चलकर गंगासागर तक और एक बार गंगोत्री से रामेश्वर तक गया था"। *महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन चरित्र (भाग-२, पृ० २५२) में ऋ० द० का कथन।*

आर्य समाज बैंगलौर की हीरक जयन्ती के अवसर पर लेखक
अन्य आमन्त्रित विद्वानों के साथ (बाएँ से सातवें स्थान पर)

A-

इं. आदित्यमुनि वानप्रस्थ

जन्म – ग्राम-चिलसरा, तहसील-कायमगंज, जिला – फर्रुखाबाद (उ.प्र.) में ३ सितम्बर, १९३७ ई. को

माता-पिता – माता – श्रीमती गंगाकुमारी,
पिता – श्री जगनूलाल मित्र (ग्राम के प्रथम आर्यसमाजी)

शिक्षा – ग्राम-चिलसरा (कक्षा १-४), रजलामई (कक्षा ५-८), फतेहगढ़ (कक्षा ९-१२) एवं प्रयाग (सिविल इंजीनियरिंग में प्रथम श्रेणी में डिप्लोमा) (१९४४ से १९५८ तक)

शासकीय सेवा – राजस्थान के सांगानेर एवं मण्डावर में ७ माह कार्य करने के उपरान्त मध्य प्रदेश के जल संसाधन विभाग में ८ जून, १९५९ से ३१ दिसम्बर, १९९७ तक (ओवरसियर एवं सहायक यंत्री के पद पर)

सामाजिक सेवा – आर्यसमाज तात्याटोपे नगर, भोपाल के मंत्री, कोषाध्यक्ष, उपप्रधान एवं प्रधान रहे। आर्यवीर दल मध्य प्रदेश व विदर्भ के मंत्री तथा विभिन्न विभागीय संगठनों के अनेक पदों पर १९६८ से २००१ तक रहकर कार्य किया। गुरुकुल कृष्णपुर (फर्रुखाबाद) की १९६९ में स्थापना एवं उसका संचालन।

लेखन एवं सम्पादन – विद्यार्थी जीवन से ही अब तक विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेखन एवं उनमें से कुछ का सम्पादन। सम्प्रति 'आर्यसेवक' मासिक नागपुर का दिसम्बर २००१ से सम्पादन। बहुचर्चित पुस्तक 'ऋषि दयानन्द का अपना जन्म चरित्र' एवं उनके 'जीवनकाल पञ्चाङ्ग' का सम्पादन।